समस्त अस्तित्व के मूलभूत तत्वों के समन्वय की खोज करते हैं। अपने श्रेष्ठतर दार्शनिक प्रशिक्षण के कारण वे अपने समन्वय को अधिक ध्येय और संगति के साथ स्थापित कर पाते हैं। वे न केवल प्रकृति और मानव जीवन में अभिव्यक्त अनन्तता और विविधता के संसार को, बल्कि तत्वमीमांसीय अर्थ में पदार्थ मात्र को स्वीकार करते हैं। अरविन्द दोनों अस्वीकृतियों की निन्दा करते हैं—भौतिकवादी की जो आत्मा को अस्वीकार करता है और अध्यात्मवादी की जो पदार्थ को अस्वीकार करता है। वास्तव में वे अध्यात्मवादी की अस्वीकृति को—जिसे वे 'संन्यासी की अस्वीकृति'[2] कहते हैं—'अधिक सम्पूर्ण, अधिक अन्तिम और अधिक संकटपूर्ण' मानते हैं। वे कहते हैं—"पृथ्वी पर दिव्य जीवन की स्वीकृति का तब तक कोई आधार नहीं हो सकता जब तक हम न केवल यह मानें कि नित्य आत्मा शरीर प्रासाद की निवासी है, इस नाशवान वस्त्र को धारण करने वाली है, बल्कि पदार्थ को भी स्वीकार करें जिसमें से वह उपयुक्त और भव्य वस्तु तैयार होती है जिससे 'वह निरन्तर अपने वस्त्र बुनता रहता है।'"[8] कट्टर एकसत्तावाद, चाहे भौतिकवादी हो चाहे आत्मवादी अरविन्द के दर्शन के प्रतिकूल है। उनकी स्थिति को अखण्ड अद्वैतवादी कहा गया है। अतिभौतिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी 'धरती का प्राणदायी स्पर्श आवश्यक है।' अतिभौतिक को वास्तव में सम्पूर्णतः तभी प्राप्त किया जा सकता है जब हम अपने पैर दृढ़तापूर्वक भौतिक पर रखे रहें।[2]

४

अब अरविन्द की दार्शनिक पद्धति पर और सूक्ष्मता से विचार करें। वे परम सत्ता को उसके सार रूप में पूर्णतः इन्द्रियातीत मानते हैं। उसका वर्णन नहीं हो सकता। उसके बारे में केवल यही कहा जा सकता है कि वह जो कुछ भी विचार और कल्पनागम्य है उस सबके परे है। पर मानव चेतना के दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि सत्ता का त्रिमुखी स्वरूप है। न वह नितान्त एकत्व है न द्वित्व है न बहुत्व है। वह त्रिगुणात्मक तत्व है—वह सत् है, चैतन्य है और आनन्द है। इसलिए अरविन्द प्राय परम सत्ता को सच्चिदानन्द कहते हैं।[1]

तो फिर भौतिक जगत् को कैसे सत्य माना जा सकता है? जगत् की यहाँ आवश्यकता ही क्या है? यहीं सृष्टि के उद्गम का चिरन्तन प्रश्न सामने आ जाता है। अरविन्द के लिए उसका उत्तर परम सत्ता के आनन्दमय स्वरूप में है। यदि ईश्वर केवल सत् मात्र होता अथवा अपनी सत्ता के विषय

तथा मन अथवा साधारण चेतना के बीच एक कडी आवश्यक है। इस कडी या बीच की सत्ता को अरविन्द अति मन कहते हैं। केवल अति मन के माध्यम से ही मन ब्रह्म तक उठ सकता है और ब्रह्म मन तक उतर सकता है। अति मन "ब्रह्म के तीनों पक्षों को विभाजित या पृथक किये बिना ही विकसित करता है।[४] वह व्यापक और सृजनशील है। उसे एक का ज्ञान है पर वह एक के भीतर से छिपे हुए अनेक को बाहर निकालने में समर्थ है वह अनेक को स्थापित करता है पर उनके बिखराव में अपने आपको विलीन नहीं हो जाने देता। वह एक के अनेक में विकीरण को धारण करता और स्थित रखता है और उसका वास्तविक विघटन से बचाता है।"[५]

अरविन्द अति मन की अवधारणा को बहुत महत्त्व देते हैं। वह उसका वर्णन इस प्रकार करते हैं— वह चेतन शक्ति की एक क्षमता है जो ईश्वर को अभिव्यक्त करती है अन्दर से जानती है और उसके स्वरूप के अंग प्राप्त करती है। न तो वह शून्य की उपज है न कल्पनाओं की रचयिता। वह चेतन सत्ता है जो अपनी अभिव्यक्ति और नित्य पदार्थ को अनित्य रूपों में ढालती है।[६] वह मन की संसिद्धि है। वह मन का लक्ष्य है जिसके लिए मन प्रयास करता है पर कभी प्राप्त नहीं कर सकता। मन ज्ञान का निधान नहीं है जैसा हम उसे माना करते हैं। वह केवल ज्ञान की खोज के लिए आपातिक विधान के कुछ रूपों में जो कुछ प्राप्त कर सके उसकी अभिव्यक्ति के लिए एक क्षमता[७] मात्र है। मन विश्वसत्ता के सत्य की केवल व्यावहारिक उपयोगों के लिए व्याख्या करता है। वह उच्च मन से पतन का मूल है और उसकी मुक्ति अपनी मूल अवस्था तक आरोहण में ही निहित है।

मन की अपूर्णताओं और दुर्बलताओं को समझाते हुए अरविन्द कहते हैं— अपने स्वभाव से ही मन वस्तुओं के रूप को बाहर से उनकी अविभाज्य सम्पूर्णता में ग्रहण करता है। मन और अति मन के बीच खाई इतनी बड़ी है कि और भी मध्य पदों की आवश्यकता है। अति मन में अवरोहण पहले उच्चतर मन में होता है। इस अवस्था में सत्य का ज्ञान सहज हो जाता है। यद्यपि अति मन ही असीम का व्यक्तित्व में प्रथम आविर्भावकरण है फिर भी केवल उच्चतर मन ही अभिव्यक्त व्यक्तिगत सत्ता का रूपान्तरण होता है। यह रूपान्तरण का आरम्भ ही मन में मन की ओर से होती है। पुनः—यह उच्चतर एवं दिव्य चेतना उपलब्ध हो सकती है। जहाँ अति मन की दृष्टि सम्पूर्ण है और उच्च मन में भी एक सीमित रूप के गुणों में सम्पूर्ण समूह का ग्रहण करने की क्षमता होती है वहाँ मन अपनी वस्तुओं को विभाजित करके

दिव्य पुरुष का अवतार है। साधारणत अवतार के विषय में हम अवतार को नैतिक और धार्मिक आवश्यकताओं की दृष्टि से ही सोचते हैं। गीता के प्रसिद्ध श्लोक में कहा गया है कि ईश्वर धर्म की रक्षा के लिए ही मनुष्य रूप में अवतरित होता है। पर प्राचीन शास्त्रों में एक और भी इंगित है जिसको अरविन्द का कहना है अब तक पर्याप्त महत्त्व नहीं दिया गया है। यह अवधारणा है ईश्वर द्वारा मानव रूप ग्रहण करने से भिन्न मनुष्य द्वारा ईश्वरत्व का रूप ग्रहण करने की। केवल धर्म की संस्थापना के लिए अवतरण 'निरर्थक व्यापार' मात्र होगा। केवल औचित्य अथवा न्याय का सद्‌गुण तो ईश्वर की सर्वशक्ति मानता सदा साधारण उपायों द्वारा भी—उदाहरण के लिए महापुरुषों, एतिहासिक घटनाओं और सन्तों के जीवन कार्य द्वारा भी—कर सकती है। अवतार तो मानव प्रकृति में दिव्य प्रकृति की अभिव्यक्ति के रूप में होता है जिससे मनुष्य अपने आपको पुनर्निर्मित और रूपान्तरित कर सके। इसलिए इस विशेष अवरोहण का उद्देश्य यह है कि निम्न अपनी निहित सम्भावनाओं को सिद्ध करने में सहायक हो सके। इसीलिए ही प्रश्न 'अपने और मानवता के बीच के परदे' को फाड़ना है।

५

अपने विकास की अन्तिम सीमा तक पहुँचने के बाद चेतन्य ईश्वर के ही सीढ़ियाँ चढ़ने लगता है जिन पर होकर वह उतरा था और इस भाँति हम विकास प्रक्रिया पर पहुँचते हैं। यह बात याद रखना महत्त्वपूर्ण है कि अरविन्द के मतानुसार यदि हम विकास से पहले प्रत्यावर्तन का होना स्वीकार न करें तो विकास निरर्थक हो जाता है। उच्चतर रूप निम्नतर में से इसीलिए प्रकट हो पाता है क्योंकि वह निम्नतर में छिपा ही रहता है। पदार्थ में से जीवन के अथवा जीव में से मन के विकसित होने का कोई कारण तब तक समझ में नहीं आता जब तक हम इस वेदान्तीय समाधान को स्वीकार न करें कि पदार्थ में जीव और जीव में मन पहले से ही निहित है कि जीवन छिपी हुई चेतना का ही एक रूप है। और तब इस क्रम में आगे के चरण और उस श्वाकृति के निश्चित कोई कारण नहीं रहते कि मानसिक चेतना स्वयं भी कभी उच्चतर अवस्थाओं का एक आवरण और रूप मात्र ही जान पड़ती है। हमारा कहना है कि ऐसा प्रति मन का विकास तभी सुनिश्चित होता है जब विकास का प्रत्यावर्तन मूल में होने वाली प्रक्रिया माना जाए।

परिभाषा के भाष्यकारों का कहना है कि उनका उद्देश्य विज्ञान के अन्त एव और बौद्ध सिद्धान्तों का मिलाना है। यह कहा जाता है कि

विकास से अरविन्द का अभिप्राय है विभेदीकरण, संगठन, अभिव्यक्ति या विविधता अनुकूलन। जब शरीर संगठित, सूक्ष्म और जटिल हो जाता है तो जीवन प्रकट होता है। इसी भाँति जब जीव शरीर अधिकाधिक जटिल हो जाता है तो मन प्रकट होता है। पर इसके साथ ही साथ ऊर्ध्वीकरण भी चलता रहता है—प्रत्येक स्तर में चेतना की शक्ति का अधिकाधिक उच्च होते जाना। इस प्रकार ऊर्ध्वीकरण का अर्थ फैलाव या विस्तार नहीं बल्कि एक से दूसरे स्तर पर आरोहण है। पर अरविन्द के लिए विकास की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है उसकी अखण्डता। जब निम्न उठकर उच्च बनता है तो इसमें उसका अस्तित्व नहीं मिट जाता। इसके विपरीत वह उच्चतर में उठकर अनुप्राणित और सम्वारित होता है। जड़ पदार्थ से जीवन प्रकट होने पर पदार्थ नष्ट नहीं हो जाता और न मन के प्रकट होने पर जीवन ही नष्ट होता है। अरविन्द का विश्वास है कि पाश्चात्य विकास सिद्धान्तों का एक दोष इस प्रवृत्ति में है कि उनके अनुसार उच्च सिद्धान्तों के उदित होने पर निम्नतर सिद्धान्त का विनाश, अथवा सदा अपनी निम्नतर अवस्था में ही बना रहना, अवश्यम्भावी है। अद्वैत वेदान्त भी ऐसी ही भूल का दोषी है क्योंकि वह मानता है कि मनुष्य की उच्चतर आत्मा को शरीर और जीवन के निम्नतर सिद्धान्तों से अपने को पृथक् करना चाहिए। अरविन्द कहते हैं— "दिव्य अथवा आध्यात्मिक जीवन न केवल मानसिक, जैविक और शारीरिक जीवन को अपने भीतर रूपान्तरित और आध्यात्मीकृत कर लेगा बल्कि अपने धरातल पर जीवित रहने में जितना सुलभ था उससे कहीं अधिक विस्तृत और सम्पूर्णतर बना देगा। हमारे आत्म विस्तार में हमारे मानसिक, शारीरिक और जैविक शक्ति न तो नष्ट होना आवश्यक नहीं और न आध्यात्मीकरण में वे क्षीण या ह्रास विरत होते हैं। वे अधिक समृद्ध, अधिक सशक्ततर, अधिक गम्भीरतर और अधिक सम्पूर्ण हो सकते हैं और होते भी हैं—अपने दिव्य परिवर्तन में वे उन सम्भावनाओं में पहुँच जाते हैं जो उनकी अनाध्यात्मीकृत अवस्था में वास्तविक अथवा कल्पनागम्य रहा हो सकता था।"[33]

अब हम आरोहण प्रक्रिया के वास्तविक स्वरूप पर विचार करें। विकास पदार्थ से शुरू होता है क्योंकि पदार्थ के स्तर तक उतरने के बाद ही वह अनुभव करता है कि आवरण अथवा अवतरण की प्रक्रिया चरम सीमा तक पहुँच चुकी है। इसके बाद वह ऊपर उठता है जो प्रत्येक पदार्थ का ऊर्ध्व बन सकता है, पदार्थ का ऊर्ध्व समारम्भ के लिए बाध्य करता है। इस तरह से एक प्रकार से पदार्थ के हृदय में छिपी शक्ति होता है वायु के गर्भभाग में प्रवेश करके और दबाव को

भांति ही अनुभव करेगा। वह अपने व्यक्तिगत स्व के सम्पूर्ण सत्त्व के साथ, अपने व्यक्तिगत कर्म के सम्पूर्ण कर्म के साथ सामंजस्य और सर्वव्यापक अभिन्नता में कार्य करेगा। पीड़ा और दुःख अब उसको वश प्रभावित न कर सकेंगे जैसे वे साधारण लोगों को करते हैं। उसे एक नई शांति और समस्त सुख दुःख को चरम तटस्थता से देख सकने की क्षमता प्राप्त हो जाएगी। वह अपने अस्तित्व के भौतिक आधार का स्वरूप स्वीकार कर सकेगा क्योंकि तब वह उसकी आध्यात्मिकता को आच्छादित न कर सकेगी। "वहत्तर ज्ञान के प्रकाश में पदार्थ को भी ब्रह्म, ब्रह्म द्वारा प्रस्तुत आत्म रूप माना जा सकेगा।"[४०]

अपनी कुछ बाद की कविताओं में अरविन्द ने उस विराट विस्तार का विशद चित्र खींचा है जो मानसातीत रूपान्तरण से, उस परिवर्तन से, आएगा जिसमें प्रत्येक वस्तु सुरक्षित रहेगी और प्रत्येक वस्तु का अतिक्रमण भी होगा।

"एक क्षणहीन सघनता शुद्ध और नग्न,
मैं हर जगह एक सनातन तक फैलाता हूँ।"[४१]

इस प्रकार के परिवर्तन के फलस्वरूप मनुष्य कह सकेगा—

मैं वह हो गया जो काल के पहले था,
एक गहन स्पर्श ने विचार और संवेदना को शांत कर दिया है।
मन द्वारा रची हुई सभी वस्तुएँ
एक शून्य और मूक ऐश्वर्य में संक्रमित हो गई हैं।"[४२]

इससे भी अधिक व्यंजनापूर्ण वे पंक्तियाँ हैं जिनमें अरविन्द विश्वचेतना का वर्णन करते हैं जो मानसातीत परिवर्तन से प्रकट होगी—

'मैंने विस्तृत संसार को अपने और भी विस्तृत स्व में समेट लिया है,
और देश तथा काल हैं जिनसे मेरी आत्मा देख रही है।
मैं दोनों हूँ देवता और राक्षस, प्रेत और पिशाच,
मैं पवन की गति और जलता सितारा दोनों हूँ।
समस्त प्रकृति मेरे पालन-पोषण में बढ़ी हुई है
मैं उसका संघर्ष हूँ और चिरन्तन विश्राम भी,
संसार का हर्ष मुझे रोमांचित करता है
मैं अपने एकाकी हृदय में करोड़ों का दुःख वहन करता हूँ।
मैंने सदैव घनिष्ठ एकता प्राप्त कर ली है
फिर भी जो कुछ होता है उससे बंधा नहीं हूँ।
अपने अंतर विश्व का आह्वान लिये हुए
मैं अपने अक्षित गह को चला जाता हूँ।

अरविन्द

सृष्टि होती है। इस सब दबाव, ताप, संघटन और विस्फोट का अर्थ है जो फूट सम्भव है उसको जन्म देने के लिए प्रबल संघर्ष।[४] और इस प्रकार जीवन का उदय होता है। जीवन जड़ पदार्थ में चेतन के प्रथम अंकुर का सूचक है। वनस्पति-जगत् में उसकी अभिव्यक्ति प्रारम्भिक है। चेतन अपनी अभिव्यक्ति से स्वयं ही असन्तुष्ट होकर पशु धरातल पर उठता है जहां वह अधिक स्वतन्त्र और मुखर हो जाता है। अब वह ऐसे प्राणी में गतिमान है जो सत्ता और संवेदना से युक्त है। इस अवस्था में प्राणवान पदार्थ में मानसिकता की पीड़ा दिखाई पड़ने लगी है। पर चेतन अब भी असन्तुष्ट है। वह और भी ऊपर आरोहण करता है और ऐसे मन अथवा बुद्धि के रूप में और भी अधिक सम्पूर्ण अभिव्यक्ति प्राप्त करता है जिसमें स्वचेतना, भेदाभेद तथा विश्लेषण की क्षमता मौजूद है। अभी तक विकास केवल इसी अवस्था में पहुँच पाया है। पर यह मानने का कोई कारण नहीं कि वह यहीं रुक जाएगा। अरविन्द का विश्वास है कि विकास का अगला चरण अनिवार्य रूप से अति मन के धरातल पर आरोहण का ही होगा।

६

यह अगला चरण रूपान्तरण की विविध प्रक्रिया द्वारा सम्पन्न होगा। रूपान्तरण के इन तीन पक्षों को अरविन्द आत्मिक परिवर्तन, आध्यात्मिक परिवर्तन और मानसोपरि परिवर्तन कहते हैं।

आत्मिक परिवर्तन हमारे मानस या आत्मा को छिपाए रखने वाले परदे के हटने को कहते हैं। अरविन्द आत्मा को 'वस्तुओं में दिव्यत्व की नित्य शुद्ध ज्वाला' कहते हैं। यह दिव्यत्व हमारे जीवन के समस्त अनुभवों के बाद भी अदूषित और अम्लान रहता है। पर आन्तरिक चेतना का ज्वलन्त और शुद्ध रहना ही पर्याप्त नहीं, यह भी आवश्यक है कि आत्मा का प्रकाश हमारे समस्त अस्तित्व में प्रवाहित हो और हमारे भीतर के जीवन, मन और पदार्थ में परिव्याप्त हो जाए। आत्मिक परिवर्तन द्वारा यही कार्य पूरा होता है। इस सन्दर्भ में अरविन्द आत्मा के शिक्षण को बड़ा महत्त्व देते हैं, क्योंकि ऐसी शिक्षा के द्वारा ही हम आत्मिक रूपान्तरण की तीव्र आवश्यकता का अनुभव कर सकते हैं। एक अर्थ में योग ऐसी ही शिक्षा है जो हमारे भीतर स्थित आत्मा को जाग्रत करती है।

पर आत्मिक परिवर्तन भी पर्याप्त नहीं है। उसका आध्यात्मिक परिवर्तन द्वारा, हमारे भीतर एक उच्चतर प्रकाश के अवरोहण द्वारा सम्पूरण आवश्यक है। ऊपर से ऐसा परिव्याप्त नहीं होगा तो हमारे आत्मिक

इस आधुनिक वैज्ञानिक समाज का अनिवार्य विरोधाभास मानते हैं। एक ओर वह प्राणवादी अद्वैतवादिता के सभी प्रतिरूपों से जुड़ा है और दूसरी ओर वह सामूहिकता के विपरीत आदर्श की ओर भी इंगित करता है। विज्ञान को प्रकृति में आक्रमण और आत्मारोपण के प्रमाण मिलते हैं—ऐसा जीवन-संघर्ष मिलता है जो अपरिहार्य और सर्वव्यापी जान पड़ता है। पर उससे यह भी पता चलता है कि प्रकृति 'प्ररूप' को सुरक्षित रखती है, व्यक्ति को नहीं कि इकाई के ऊपर समूह की प्राथमिकता है।

अरविन्द आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोणों की एक साथ सक्रियता की तथा मानव संस्कृति के लिए उनके घात-प्रतिघात की सम्भावनाओं की विस्तार से जाँच करते हैं। वे इन दोनों दृष्टिकोणों के उपयोग द्वारा प्राप्त पाश्चात्य समाज की प्रगति को स्वीकार करते हैं। किन्तु इस सफल उपयोग के बावजूद यदि आज जीवन में संकट है तो उसका कारण खोजना है। एक तो वैज्ञानिक और समाजशास्त्री दोनों ही यह भूल गए जान पड़ते हैं कि विकास के सच्चे नियम को समझने के लिए न केवल मनुष्य का अतीत वरन् उसका भविष्य भी—उसकी मानसिक और आध्यात्मिक नियति भी—जानना आवश्यक है।[21] दूसरे मानव विकास के साधनों के रूप में तर्कना पर अत्यधिक भरोसा किया जाता है। दूसरी कठिनाई वास्तव में पहली से अलग नहीं की जा सकती। चूंकि हम जो कुछ हमसे नीचे या तत्काल हमारे सामने है उससे सन्तुष्ट हो जाते हैं ठीक इसीलिए जो क्षेत्र हमसे ऊपर हैं उन्हें जानने की पद्धतियों को पहचानने में हम असमर्थ रहते हैं।

द ह्यूमन साइकिल के वस्तुतः अध्यायों में अरविन्द इन बातों का विस्तार करते हैं और इस विस्तार के बीच यह भी दिखाते हैं कि किस प्रकार उनके सामान्य दार्शनिक दृष्टिकोणों को संस्कृति और सामान्य जीवन की विशेष समस्याओं पर लागू किया जा सकता है। वे मानव विकास में तर्कना के निर्णायक स्थान को पूरी मान्यता देते हैं। तर्कना के द्वारा ही मनुष्य ने अपने आन्तरिक तथा बाह्य जीवन में व्यवस्था लाना, अपने परिवेश पर शासन करना और एक प्रगतिशील भविष्य की कल्पना करना सीखा है। जीवन के अनियमित में विभिन्न मांगों, कामनाओं में चयन तर्कना ही करती है जिससे अपने आवेगों काम से विलग करने का, पीछे हटकर खड़े रहने की, अध्ययन और विश्लेषण करने की सामर्थ्य है।[22] यह विज्ञान मानव के ही लिए मौजूद रह सकती है यह मन के आवेगों और लालसाओं की बाढ़ में अपने आपको बचा सकती है। फिर भी आत्मा तर्कना अथवा बुद्धि से अधिक महान् और अधिक गहन है।

मैं समाप पखों पर काल और जीवन के परे संक्रमण करता हूँ,
फिर भी जन्मों और अज मी वस्तुओं से एकाकार हूँ।'[२३]

किन्तु अरविन्द मानसोपरि रूपान्तरण के बाद समता की स्थिति की कल्पना नहीं करते। यद्यपि समस्त आध्यात्मिक ज्ञान-सम्पन्न प्राणियों के जीवन की सामान्य रूपरेखा अत्यन्त मिलती जुलती होगी फिर भी विविधता का अन्त नहीं हो जाएगा। "मानसोपरि अथवा आध्यात्मिक ज्ञान सम्पन्न प्राणियों की जाति एक ही प्रकार से बनी हुई एकमात्र स्थायी रूप में ढली हुई जाति नहीं होगी क्योंकि अति-मन का नियम है अनेकता में परिपूर्ण एकता, और इसलिए विश्वचेतना की अभिव्यक्ति अनन्त विविधता में होगी, यद्यपि अपने आधार में, अपने विधान में, अपने सब उद्घाटक और सब संयोजक क्रम में, चेतना एक ही होगी।'[२४] हमारे विकास की वर्तमान अवस्था में अभी तक विविधता और विग्रह का चोली दामन का साथ है। शारीरिक जैविक तथा मानसिक धरातलों पर हमारे उद्देश्यों की अस्पष्टता और अहं की दासता के कारण विभिन्नता में कलह पैदा हो जाती है। हम अँधेरे में टटोलते रहते हैं क्योंकि हमारा ज्ञान, विज्ञान और सामाजिक संगठन में प्राप्त सफलता के बावजूद, अभी तक खण्डमूलक और अपूर्ण है। मानसोपरि परिवर्तन होने पर विविधता प्रतिद्वंद्विता अथवा संघर्ष की प्रस्तावना न बनेगी, बल्कि वह सामंजस्य के एक प्रमुख नियम का कार्य-क्षेत्र होगी।

वैसा होने पर उजेले और अँधेरे के बीच संघर्ष का स्थान प्रकाश से अधिकतर प्रकाश की ओर प्रगति ले लेगी। विग्रह अंधी सत्ताओं, संघर्ष की टकराहट, स्फीति तथा विस्फीति के असामान्य विपर्यय और अपने मिश्रण तथा संघर्ष में सक्रिय दृष्टिहीन शक्तियों का अस्थिर सन्तुलन—सब उस प्रभाव को अनुभव करेंगे और उनकी जगह प्रगति करते हुए जीवन और चेतना की अधिक उद्घाटनकारी व्यवस्था एक श्रेष्ठतर जीवन व्यवस्था स्थापित होगी।[२५] वास्तव में आध्यात्मिक ज्ञानसम्पन्न प्राणियों के धरातल पर आरोहण मनुष्य के लिए पृथ्वी पर दिव्य जीवन की स्थापना से किसी प्रकार कम न होगा।

७

अभी तक दार्शनिक के रूप में अरविन्द की ख्याति उनके ग्रंथ द लाइफ डिवाइन पर ही आधारित है। पर यदि भविष्यवाणी का साहस किया जाए तो कहा जा सकता है कि भविष्य में भारतीय चिन्तन का इतिहासकार अरविन्द दर्शन के स्थायी और सुस्पष्ट तत्वों के लिए संभवतः इनकी अधिक सन्निकट

एक नये आध्यात्मिक युग के द्वार पर है जो ऐसे रूपान्तरण से प्रारम्भ होगा। अवश्य ही उसका प्रतिरोध भी होगा, किसी बाह्य शक्ति द्वारा प्रतिरोध नहीं बल्कि स्वयं मनुष्य द्वारा। हमारा यही स्वभाव है कि अपने आप द्वारा भी आगे बढ़ जाना, पीछे छोड़ दिए जाना हम पसन्द नहीं करते। पर जब मनुष्य यह समझ लेगा कि आध्यात्मिक युग उसकी सामान्य मानवता को नकारने की माँग नहीं करेगा तो यह प्रतिरोध दूर हो जाएगा।[४१]

वास्तव में जिसे हम 'सामान्य मानवता' मानते हैं वह स्वयं प्रकृति में बहुत असामान्य है, एक आकस्मिक घटना एक चमत्कार है। मनुष्य एक अर्ध देवता है जो अपने पशु स्वभाव से उदित होकर बाहर निकला है, उसमें गौरव पूर्ण असामान्य है।' पर वह सम्पूर्ण देवता बनने के पथ पर है और यह स्थिति उसे अपनी तुलना में उतनी ही असामान्य लगती है जितना वह स्वयं पशु की तुलना में है।[४३] और फिर भी यह चरण रखा तो जाना ही है, क्योंकि केवल इसी प्रकार वह अपने आपको परिपूर्ण कर सकेगा। सभ्यता का गति चक्र तब तक पूरा न होगा जब तक यह परिवर्तन न हो जाए। पिछले युगों में मानव विकास की धारा पर दृष्टिपात मात्र हमें इसका विश्वास दिलाने के लिए पर्याप्त है।

सभ्यता के पहले चरण में मानव चेतना जड़ पदार्थ की सम्भावनाओं को समाप्त करती है। वह जीवन और जगत् जड़ पदार्थ के आधार पर थाम रखती है। वह कहती है—'अन्नम् ब्रह्म'। दूसरे चरण में मनुष्य अस्तित्व को विकासमान जीवन का स्पन्दन मानता है। चिरंतन पदार्थ की बजाय वह चिरंतन जीवन की बात करता है। वह कहता है—'प्राण ब्रह्म'। और भी ऊपर उठकर वह महान् आत्माभिव्यक्तिकारी और आत्मा वेषणकारी मन से साक्षात्कार करता है। वह कहता है—'मनोमय ब्रह्म'। अब वह समय आ गया है जब हम चिरंतन मन से चिरंतन आत्मा की ओर बढ़ें और कहें—'प्रज्ञानम् ब्रह्म'। केवल इस प्रकार ही समाज का आध्यात्मीकरण हो सकता है। और जब वह होगा तब पूरी मानव जाति अपने आध्यात्मिक व्यक्तियों की भाँति जीवित रहेगी—सामूहिक अहंकार में नहीं बल्कि सामूहिक आत्मा में।[४८]

आध्यात्मिक प्रकार के व्यक्तित्व मनुष्य का अभियान पुन: मानव बहुत प्राचीन काल से है।' व्यक्तिगत व्यक्तियों का नवीनीकरण [illegible] है। किन्तु अभी तक यह [illegible] प्रयत्न प्रयास मात्र ही [illegible] गया है। उसने जीवन का [illegible] है पर [illegible] है।[४९] [illegible] युग की भावना [illegible]

बुद्धि हमारे जीवन के नियम निर्धारित करने के लिए अधोमुख अथवा बहिर्मुख संचरण करती है। पर एक और क्षमता है जो अधिक आलोकपूर्वक कार्य करती है—ऐसी क्षमता है जो ऊर्ध्वमुख और अन्तर्मुख है।[43] हम इतिहास के ऐसे नाजुक समय पर आ पहुँचे हैं जहाँ हम इस उच्चतर क्षमता की ओर उन्मुख होकर विकास का नया पथ निर्मित करना है।

वास्तव में तर्कना के दो कार्य हैं। अपने एक पक्ष में वह सत्य के निरपेक्ष अन्वेषण की सूचक है। पर उसमें व्यावहारिकता का भी भारी मोह होता है। बर्गसाँ की भाँति अरविन्द भी कहते हैं कि तर्कना का व्यावहारिक उपयोगिता के साधन का कार्य उसके नाते के साधन के कार्य को दबा देता है। यह नहीं कि पहला कार्य अनुचित है बल्कि वह तो तर्कना को मनुष्य को बन्दी रखने वाली अन्धी शक्तियों को वश में करने के लिए प्रेरित करता है। पर अपना कार्य पूरा करने के बाद तर्कना के ऊपर उठने की आवश्यकता है। मानव जीवन की मूल शक्तियाँ जितनी उसके नीचे हैं उतनी ही उसके ऊपर भी हैं।[44] नीचेवाली शक्तियों के शुद्ध और परिष्कृत होने के बाद स्वयं तर्कना को उन शक्तियों का भान होने लगता है जो ऊपर हैं। वह अपने आप अतिक्रमण करने वाले प्रकाश को, निष्क्रिय ढंग से किन्तु महानुभूतिपूर्वक, प्रतिबिम्बित करने में समर्थ है। उसकी सीमा आ जाने पर वह तर्कोपरि की ओर इंगित करने का अपना अंतिम—और शायद सबसे गौरवपूर्ण—कर्तव्य पूर्ण करती है। वह मनुष्य से कहती है—"जगत और मनुष्य में एक स्व, एक आत्मा, एक ईश्वर है और सब कुछ उसी का आत्म-संगोपन और आत्मोद्घाटन ही है। मैं इसकी सेविका इसीलिए बनी हूँ कि धीरे-धीरे तुम्हारी आँखों की पट्टी खोलकर तुम्हारी दृष्टि के सारे आच्छादन दूर कर दूँ यहाँ तक कि तुम्हारे और उसके बीच केवल मेरा अपना प्रकाशित आवरण ही शेष रह जाए। उसे भी हटाकर अपनी आत्मा को दिव्य के साथ एकाकार कर दो। तब तुम अपने आपको जानोगे, अपने अस्तित्व का सर्वोच्च और सर्वव्यापक नियम पा सकोगे। मुझसे उच्चतर इच्छा और ज्ञान के स्वामी नहीं तो कम से कम साधन अवश्य बन सकोगे और एक मानव तथापि दिव्य जीवन के सच्चे रहस्य और सम्पूर्ण अर्थ को समझ सकोगे।"[45]

८

तो फिर आवश्यकता मानव जीवन के मूलभूत रूपान्तरण की है ऐसा रूपान्तरण जो बुद्धि को पीछे छोड़ दे यद्यपि स्वयं बुद्धि ही उसकी अनिवार्यता की बात चुपके-से कान में कहती है। अरविन्द का विश्वास है कि मनुष्य अब

सन्दर्भ

१ अरविन्द ने बुद्ध का उल्लेख बड़ी भक्ति से किया है पर उनकी विश्व दृष्टि की रचना में बौद्ध धर्म का योग नगण्य है।

२ आधुनिक भारत में अरविन्द ही एकमात्र महत्वपूर्ण चिंतक हैं जो इस्लाम के प्रभाव से सम्पूर्णतः मुक्त रहे हैं। भारतीय संस्कृति के विषय में उनके प्रचुर लेखन से यह लगता है जैसे भारत में इस्लाम के एक हजार वर्ष से कोई अन्तर ही नहीं पड़ा।

३ इसका यह अर्थ नहीं कि दार्शनिक धरातल पर अरविन्द ने ईश्वरवादी दृष्टिकोण की उपेक्षा की है।

४ जैसा हम बाद में देखेंगे बहुत सी बातों में अरविन्द के विचारों में गांधी के विचारों के साथ घनिष्ठ साम्य है। पर गांधी के आकर्षण की सर्वव्यापकता को वे स्वीकार करते नहीं जान पड़ते।

५ तुलनीय दयानन्द, बंकिम और तिलक पर अरविन्द का निबन्ध।

६ उनके ग्रन्थ ऐसेज़ ऑन गीता का स्थान विशुद्ध शास्त्रीय दृष्टिकोण से भी ऊँचा है।

७ विश्वभारती क्वार्टरली (खंड ६, पृ० ३३६) में प्रकाशित एक कविता में।

८ श्री अरविन्द में सगन द्वारा उद्धृत पृ० १८।

९ उपरोक्त पुस्तक की भूमिका में जेटलैंड द्वारा उद्धृत।

१० वे घोषित नास्तिक और हर प्रकार के धार्मिक कार्य के विरोधी भी थे।

११ कर्मयोगिन में निबन्ध १९०९।

१२ सगन द्वारा श्री अरविन्द में उद्धृत पृ० १६।

१३ उन्हें अपनी मृत्यु के बाद होने वाली राजनीतिक घटनाओं के पूर्व संकेत का भी श्रेय दिया जाता है।

१४ अरविन्द के कार्य के विषय में प्रकाशित विशाल सामग्री में किसी भी लेखक की रचना में भी असहमति की अभिव्यक्ति मिलना कठिन है।

रूपान्तरण की लालसा के अधिकाधिक परिव्याप्त होने से होगी। मानव जीवन अपनी वर्तमान सीमाओं से बृहत्तर और शुद्धतर क्षितिजों में संक्रमण का साक्षी होगा। "पार्थिव विकास अपनी महान ऊर्ध्वमुखी गति प्राप्त कर लेगा और उस दिव्य प्रगति के पथ पर एक उदघाटनकारी चरण रखेगा जिस पर पशु-स्वभाव से विचारशील और आकांक्षावान मनुष्य का उदय केवल एक अस्पष्ट तैयारी और सुदूर आश्वासन मात्र था।'

३७ वही पृ० ६६२।

३८ एस० के० मित्र द्वारा इन्ट्रोडक्शन टु द फिलॉसफी आफ श्री अरविन्द में उद्धृत, पृ० ८६।

३९ उसी पुस्तक में उद्धृत पृ० ८६।

४ अरविन्द यह नहीं कहते हैं कि आध्यात्मिक ज्ञानसम्पन्न प्राणी जड पदार्थ को स्वीकार कर सकता है क्योंकि उसके लिए 'पदार्थ के साथ आत्मा का सम्पर्क बदल चुका है उस अन्धी क्रिया का वर्तमान सन्तुलन पलट चुका है जो आत्मा के ऊपर भौतिक प्रकृति के आवरण और प्रभुत्व को चलने देती है।'

४१ श्री अरविन्द लास्ट पोयम्स, पृ० २०।

४२ वही।

४३ वही पृ० ९।

४४ द लाइफ डिवाइन पृ० १०३४।

४५ वही पृ० १ २१।

४६ अप्रैल १९१६ से जुलाई १९१८ तक द आर्य में क्रमश प्रकाशित। पुस्तक रूप में १९४९ में प्रकाशित।

४७ द ह्यूमन साइक्लि पृ० ६।

४८ वही पृ० ९।

४९ वही पृ० १४।

५० सच्ची और झूठी आत्मनिष्ठता का अन्तर द ह्यूमन साइक्लि के पाँचवें अध्याय में समझाया गया है।

५१ द ह्यूमन साइक्लि पृ० ८।

५२ वही पृ० १ ५।

५३ तुलनीय अध्याय १२ द आफिस एण्ड लिमिटेशन्स आफ रीज़न।

५४ द ह्यूमन साइक्लि पृ० १४६।

५५ वही पृ० १५ ।

५६ वही पृ० २६०।

५ वही पृ० ९ ।

५८ वही पृ० २१६।

५९ वही पृ० ५।

६ वही पृ० ३ ४।

१५ तुलनीय, एस० के० मत्र इन्ट्रोडक्शन टु द फिलासफी आफ श्री अरविन्द।

१६ भारतीय चिन्तन की विभिन्न धाराओं के समस्त दोषों का निराकरण भी।

१७ तुलनीय, चौधरी और स्पीगलबर्ग द्वारा सम्पादित परिसंवाद, 'द इन्टिग्रल फिलासफी आफ श्री अरविन्द' (१९५८)।

१८ वे 'महान अन्वीकृति' कहकर इस बात पर बल देते हैं।

१९ द लाइफ डिवाइन पृ० ८।

२० तुलनीय दोर्हे श्री अरविन्दस सिनथेसिस आॅफ आयडियलिज्म एण्ड मटेरियलिज्म।

२१ अरविन्द कहते हैं कि इन तीनों में से कोई पक्ष भी, आनन्द भी, दूसरों से 'अधिक सत्य' नहीं है।

२२ द लाइफ डिवाइन, पृ० ११९।

२३ तुलनीय, नलिनीकान्त गुप्त द लाइन्स आफ डिसेन्ट आफ कान्सनेस।

२४ एस० सी० चटर्जी माइन्ड एण्ड सुपरमाइन्ड इन श्री अरविन्दस इन्टिग्रलिज्म'।

२५ वही।

२६ द लाइफ डिवाइन पृ० १७७।

२७ वही, पृ० १७८।

२८ नलिनीकान्त गुप्त लाइन्स आॅफ डिसेन्ट आफ कान्सनेस।

२९ द लाइफ डिवाइन, पृ० ५।

३० आर० एस० श्रीवास्तव द इन्टिग्रल थ्योरी आफ इवाल्यूशन (द इन्टिग्रल फिलासफी आफ श्री अरविन्द, ए सिम्पोजियम से, पृ० १३३)।

३१ द लाइफ डिवाइन, पृ० ७३४।

३२ हरिदास चौधरी द इन्टिग्रल फिलासफी आफ श्री अरविन्द (इसी शीर्षक के एक परिसंवाद से, पृ० ३१)।

३३ द लाइफ डिवाइन पृ० ६४८।

३४ नलिनीकान्त गुप्त लाइन्स आफ डिसेन्ट आफ कान्सनेस (अरविन्द मन्दिर, द्वितीय वार्षिकी, १९४३)।

३५ द लाइफ डिवाइन पृ० ९४६।

३६ वही, पृ० ९५९।

इतिहास मे महानतम शैलीकारो म होगी और उन्हे शलिंग, शापनहावर और बगसा के साथ उन लोगो की कोटि म रखा जा सकता है जिन्होने दार्शनिक गद्य को सजनात्मक साहित्य के स्तर तक उठा दिया है। उनकी उपमाएँ जितनी चमत्कारपूर्ण है उतनी ही स्पष्ट भी, उनके शब्दचित्र जितने रगीन हैं उतने ही विशद भी। व अपने वाक्यो म ऐसी प्राणवत्ता भर देते है कि दीघ विस्मृत विचारो क जमे हुए शिलाखडो म नया जीवन फूट पडता है।

स्मरणीय वाक्याश राधाकृष्णन की लेखनी से अपूव सहजता से निकलते चले आते हैं। उनकी पुस्तको के पृष्ठ ऐसे वाक्यो से भरे पडे हैं— 'आध्यात्मिक होना इतनी तीव्रता से सोचना है कि चिन्तन दशन बन जाए,' 'मुक्ति म मनुष्य स्वय अपनी महान कृति बन जाता है,' सुन्दर फूल उन कीचड भरी जडो का औचित्य सिद्ध करते हैं जिनसे वे निकले है' 'जीवन पथ का अन्तिम अश अकेले ही पूरा करना पडता है,' 'बत्ती का सिरा जलने लगे तो सारे दीपक को जलता हुआ कहा जाता है' 'हम अपनी आत्माओ का वर्दी नही पहना सकते' 'सम्पूणता का पथ सीढी नही एक चढाई है'' 'स्वणयुग वह समय है जब सब सिर कठोर होगे और सब तकिए नरम', 'सत्य के गह म कोई अनिवाय सैनिक भर्ती नही हो सकती', 'शताब्दियो क जीवन मे तनिक सा इतिहास बनता है, और शताब्दियो के इतिहास से थोडी सी परम्परा।

यह अभिव्यक्ति की क्षमता उनके लेखन तक ही सीमित नही है। यह उनके वार्तालाप और भाषणो म भी उतनी ही प्रकट है। इसम कोई सन्देह नही कि आधुनिक दार्शनिक क्षेत्र म राधाकृष्णन के व्यापक प्रभाव का कारण अशत उनकी वाग्मिता है। फिर भी इससे अधिक भ्रामक कोई बात नही हो सकती कि उन्हे केवल ऐसा प्रवाहशील वक्ता या शब्द शिल्पी मात्र मान लिया जाए जिसे परिश्रमपूवक अध्ययन की आवश्यकता नही होती। सूक्तियाँ युक्तियो का स्थान नही ले सकती—कम से कम दर तक तो नही ही टिक सकती। राधाकृष्णन की स्थापनाएँ और समीक्षात्मक निष्कष ठोस तकसगति पर आधारित हैं। उनके लेखन म सहज लगने वाले विवेचन के पीछे वर्षो का कठोर परिश्रम है।

२

उनकी इतनी प्रतिष्ठा और विश्वव्यापी ख्याति को देखते हुए उनके पाठक उनके व्यक्तिगत अथवा प्रारम्भिक जीवन के बारे म इतना कम जानते हैं कि आश्चय होता है। यह अधिकतर अपनी कठिनाइयो सघर्षो रुचियो, आशाओ और आकाक्षाओ के विषय म उनकी ही चुप्पी का परिणाम है। एक

आठवां अध्याय

राधाकृष्णन

१

दर्शन के विषय में दो धारणाएँ ऐसी हैं जो किसी तरह नहीं मिटतीं। एक तो यह कि दार्शनिक व्यावहारिक कार्यों से असंपृक्त होता है और दूसरे यह कि दर्शन गहरा तभी हो सकता है जब वह नीरस भी हो। राधाकृष्णन का जीवन इन दोनों भ्रान्त धारणाओं का जीता जागता खंडन है।

यह एक ऐसे शास्त्रीय दार्शनिक का प्रेरणादायक उदाहरण है जो न केवल राज्य के सर्वोच्च पद पर आसीन है बल्कि जिसकी छाप देश के सामाजिक, शैक्षिक और सांस्कृतिक विकास पर पड़ी है। दुनिया राधाकृष्णन को एक ऐसे दार्शनिक राजमर्मज्ञ के रूप में, राजनयिक और राजनीतिज्ञ के रूप में ही जानता है जो निरन्तर उन सर्वोच्च मूल्यों से संचालित होता रहा है जो मानव जाति ने अपने लम्बे और उत्थान-पतन भरे इतिहास में विकसित किये हैं। पर बहुत कम लोगों को कई विश्वविद्यालयों के उप कुलपति तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग[1] के अध्यक्ष के रूप में उनके कार्य की याद है। उनकी साहित्यिक रचियों से तो और भी कम लोग परिचित हैं यद्यपि वे भारतीय पी॰ ई॰ एन॰ के अध्यक्ष तथा साहित्य अकादमी के उपाध्यक्ष हैं।[2]

यह लगभग अविश्वसनीय लगता है कि उन्होंने ये सब जिम्मेदारियाँ सम्हालने के साथ साथ इतना अवकाश और शक्ति बचा पाई कि दर्शन की गहनतम समस्याओं पर पुस्तकें लिखें, हिंदू और बौद्ध धर्म के कालजयी ग्रंथों का सम्पादन और सुंदर अंग्रेजी में अनुवाद करें, संसार भर की विद्वन्मंडली के समक्ष भाषण दें और बहुसंख्यक शोधकर्ताओं का मार्गदर्शन करें। यह आश्चर्य और भी बढ़ जाता है जब हम देखते हैं कि उनके समस्त लेखन में विषयवस्तु की महत्ता में साहित्यिक रूप की उत्कृष्टता किसी प्रकार कम नहीं है। उनकी अभिव्यक्ति की सहजता विस्मयकारी है। उनकी गणना इस्तान के

आलोचनात्मक अध्ययन के लिए मैं बाध्य हुआ परम्परा मे आस्था डगमगाने पर ही दर्शन की आवश्यकता पैदा होती है।[८]

राधाकृष्णन को दर्शन की ओर प्रेरित करने में सयोग का भी हाथ रहा है। सत्रह वर्ष की आयु में जब वे इतिहास, दर्शन और गणित के बीच असमंजस में पड़े थे उनके रिश्ते के एक बड़े भाई ने अपनी कुछ पुरानी पुस्तकें उन्हें उपहार स्वरूप दी—वैल्टन की लाजिक, स्टाउट की साइकालाजी और मैकेंजी की एथिक्स। राधाकृष्णन ने ये पुस्तकें बडे चाव से पढीं और दर्शन शास्त्र के आजीवन उपासक बन गए। इस घटना का उल्लेख करते हुए उन्होंने डिलथे के इन शब्दों को उद्धृत किया है—'जीवन सयोग भाग्य और चरित्र के ताने बाने से बुना रहस्यमय कपड़ा है।'[९]

राधाकृष्णन ने अपना कर्म जीवन प्रेसिडेंसी कालेज, मद्रास में दर्शन के शिक्षक के रूप में प्रारम्भ किया और भारतीय चिंतन के कालजयी ग्रंथो के गहन अध्ययन में लग गए। संस्कृतज्ञों की सहायता से उन्होंने प्राचीनपंथी सम्प्रदायों के आधारभूत ग्रंथ उपनिषदों और भगवदगीता पर और ब्रह्मसूत्र पर, शंकर रामानुज माधव और निम्बार्क के भाष्यों पर अधिकार प्राप्त कर लिया। उन्होंने बौद्ध और जैन धर्म के भी आधारभूत ग्रंथों से परिचय प्राप्त किया। यूरोपीय चिंतन का उनका अध्ययन भी इतना ही व्यापक था। उन्होंने कहा है कि दार्शनिक के रूप में अफलातून प्लाटिनस काण्ट, ब्रैडले और बर्गसाँ ने उन्हें सबसे अधिक प्रभावित किया। पर ह्वाइटहैड, अलेक्जेंडर क्रोचे और रसल जैसे आधुनिक दार्शनिक भी उनके उतने ही परिचित हैं। यूरोपीय साहित्य भी सदा उन्हें आकर्षित करता रहा है। उनकी रचनाओं में शेक्सपियर, गेटे दान्ते, गाल्स्वर्दी ह्विटमन ब्राउनिंग शैली और बायरन के अनेक उद्धरण बिखरे पड़े हैं।

राधाकृष्णन सदा ही अध्येता बने रहे हैं। पिछले दिनों उन्होंने मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद का अध्ययन भी उसी सम्पूर्णता और उन्मुक्त मन से प्रारम्भ किया जो कई दशाब्दियों पहले दर्शन के अध्यापक के रूप में उनके अध्ययन की विशेषता थी। विश्वव्यापी यात्राओं तथा प्रत्यक्ष विचारधारा के विख्यात प्रतिनिधियों से व्यक्तिगत सम्पर्कों की भी उनकी प्रौढ रचनाओं पर बड़ी सूक्ष्म छाप है। और यद्यपि इन समस्त—प्राचीन और आधुनिक पाश्चात्य और पौर्वात्य—चिंतकों और कवियों ने उनके विचारों को ढाला है फिर भी उन्हें किसी एक व्यक्ति या विचारधारा का अनुयायी नहीं कहा जा सकता। अद्वैत वेदान्त उनकी मान्यताओं के सबसे समीप है पर वेदांत को उनकी

मात्र आत्मजीवनीपरक लेख जो उन्होंने लिखा है वह एक अपेक्षाकृत अपरिचित पुस्तक रिलीजन इन ट्रांजीशन[3] में छपा है जो १९३७ में प्रकाशित हुई थी। यह निबंध—माइ सर्च फॉर ट्रुथ—उनके लेखों में सबसे कम सुविदित है। लगता है कि व्यक्तिगत प्रचार में अरुचि उन्होंने अपने दार्शनिक पूर्वजों से, प्राचीन भारतीय चिंतकों से उत्तराधिकार में प्राप्त की है।

जीवित दार्शनिक पुस्तकमाला[4] में उनके चिंतन से सम्बन्धित खण्ड में प्रकाशित एक लम्बे फगमेंटस ऑफ ए कन्फेशन, में राधाकृष्णन स्वयं अपनी इस चुप्पी को स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं—'यह मेरा इरादा नहीं है कि अपने वैयक्तिक जीवन, अपने माता पिता तथा पूर्वज, विवाह और परिवार, अपनी रुचि अरुचि के विषय में चर्चा करूं। मुझे किसी विशेष सौभाग्य ने उस क्षेत्र में ऊपर नहीं उठाया है जिसमें हमारे जन साधारण संघर्ष करते रहते हैं, और जीवन का भार और चिन्ता मेरे हिस्से भी पड़ी ही हैं। स्वयं मेरे लिए उनका सार्थकता बहुत होते हुए भी विवेक मुझे उनकी चर्चा करने से रोकता है।[5] जब पुस्तक के सम्पादक प्रोफेसर शिल्पन और ब्यौरे के लिए आग्रह किया तो एक पत्र में उन्होंने लिखा— एक अर्थ में हमारा लेखन हमसे जन्म लेने पर भी हमसे अधिक मूल्यवान होता है। हम उसके लिए बहुत कष्ट उठाते हैं जैसे माता पिता अपने बच्चों के लिए उठाते हैं। जहां तक हमारे भावों और इच्छाओं का प्रश्न है जिनके कारण जीवन इतना तीव्र और रोचक बनता है, हममें से कितने लोग सीधे अपनी आत्मा में झांक पाते हैं?"[6]

सर्वपल्ली राधाकृष्णन का जन्म ५ सितम्बर १८८८ को दक्षिण भारत के एक छोटे से शहर तिरुत्तनि में हुआ था। तिरुत्तनि शताब्दियों से एक धार्मिक तीर्थ रहा है। इसके अतिरिक्त माता पिता के गहरे धार्मिक संस्कारों ने राधाकृष्णन को हिंदू धर्म के आधारभूत मूल्यों में, आस्था में योग दिया। एक बाद के निबंध में उन्होंने लिखा है—"दर्शन के विषय में विज्ञान की बजाय धर्म के दृष्टिकोण की ओर मेरा रुझान मेरी प्रारम्भिक शिक्षा से निर्धारित हुआ।"[7] यह धार्मिक दृष्टि ईसाई संस्थाओं में—लूथरन मिशन हाई स्कूल, तिरुपति, वूरहीस कालेज, वेलोर और मद्रास क्रिश्चियन कालेज में—अध्ययन के दिनों में और भी पुष्ट हुई[8]। बारह वर्ष तक वे ईश्वर में जीवंत आस्था के वातावरण में सांस लेते रहे। सकारात्मक पक्ष के अलावा, इस ईसाई परिवेश ने उनके चिंतन को नकारात्मक रूप में भी प्रभावित किया। भारतीय धर्म और चिन्तन की आलोचना, जो वे अपने शिक्षकों से निरन्तर सुनते थे, उनकी सरल आस्था पर आघात करती थी। उनके ही शब्दों में—'इस भांति हिंदू विचारों के

वच प्रखर शब्दों मे रखा गया है—"टगोर का परमात्मा ससार से सुविधाजनक दूरी पर स्थित कोई अमूत सत्ता नही है, बल्कि वस्तुओं के केन्द्र म स्थित एव मूत गतिमान जीवन है जो हवाओं के गजन और सागर के ज्वार को उपन्न करता है। टगोर म दृष्टि की अखण्डता है जो शरीर और मन म, जड और चेतन म कोई अन्त विभाजन नही सहन कर सकती। उनका सन्देश सीधा है—धम पर दढ रहो धर्मों को जान दो। आत्मा की अखण्डता को पाना आवश्यक रूप से परम्परागत मार्गों का अनुसरण करना नही है क्योंकि भक्ति के माग पर कोई चरण चिह्न नही होते।"[१२]

कहा गया है कि इस पुस्तक म राधाकृष्णन 'अनजाने ही अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य के क्षेत्र म अपनी नौ भावी उडानों का पूर्वाभ्यास कर रहे थ। उनके ऊपर टगोर का प्रभाव गहरा और व्यापक है यद्यपि कवि का मूलभूत रुझान निरपेक्ष आदर्शवाद के दशन से, जिसके लिए राधाकृष्णन का सदा ही आग्रह रहा है बुनियादी तौर पर भिन्न है। इस बात से एक तो उनकी उदारता प्रकट होती है और दूसरे उनका यह विश्वास कि टगोर का दर्शन वस्तुओं की मूलभूत एकता के विषय म गहरी अन्तदृष्टि को प्रकट करता है। टगोर की कला और चिन्तन के इस पक्ष पर उस समय बल दिया जाना आवश्यक भी था क्योंकि इस बात की आशका थी कि कवि को केवल भावातिरेकपूर्ण गीतों का अनुप्राणित गायक मात्र माना जाए।

दो वष बाद राधाकृष्णन की पुस्तक रेन आफ रिलीजन इन क टम्परेरी फिलासफी प्रकाशित हुई। इसम लेखक तकना के प्रबल समथक और धम के तीव्र आलोचक के रूप म सामन आता है। इस पुस्तक का स्वर व्यग्यपूर्ण और विवादात्मक है और टगोर पर उनकी पिछली पुस्तक से एकदम भिन्न है। लेखक की द्वद्वात्मक कुशलता और उत्साह को मानते हुए भी बहुत से समीक्षकों ने इस पुस्तक को विवादपूर्ण और कमजोर बताया। बाद म स्वय राधाकृष्णन ने स्वीकार किया कि उनका धम को दशन से पृथक करने का प्रयास 'अति महत्त्वाकांक्षी था। द रेन आफ रिलीजन का उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि तकना के आधार पर निरपेक्ष आदशवाद अपरिहार्य है और बहुत से आधुनिक पाश्चात्य चिन्तक अपने धमपरक पूर्वाग्रह के कारण ही निरपेक्ष विरोधी मान्यताओं के विपक्ष रहते हैं।

राधाकृष्णन धम को दशन म 'विघ्नकारी तत्त्व' बताते हैं। वे कहते हैं— धम-व्यवस्था दार्शनिक अध्ययन का एक छोर अवश्य है, पर उसको अध्ययन म नियामक नही होना चाहिए। यह धम या दर्शन दोनों म से किसी

व्याख्या इतनी लचीली है कि शंकराचार्य के कट्टर अनुयायी को उसमें बहुत-से दोष दिखाई देंगे। उनके निष्कर्षों का जितना अधिक प्रभाव दूसरों की राय का है, उनकी अपनी अंतरतम की अनुभूतियों का उससे कम नहीं है। अपने ऊपर प्राचीन दार्शनिकों के ऋण को स्वीकार करते हुए वे कहते हैं— किन्तु मेरे चिंतन का एक और भी स्रोत था। वह मेरी अपनी अनुभूति से उपजा था जो कभी भी वैसी ही नहीं हो सकती जैसी पढ़ने या अध्ययन से प्राप्त होती है। ऐसा चिंतन तर्कसंगत स्थापनाओं से सिद्ध होने के बजाय आध्यात्मिक चेतना से उपजता है। दर्शन जितना सत्य के साक्षात्कार द्वारा उत्पन्न होता है उतना उन साक्षात्कारों के ऐतिहासिक अध्ययन से नहीं।'

३

राधाकृष्णन के मुख्य दर्शन-ग्रंथों का कालक्रमानुसार सर्वेक्षण बड़ा उपयोगी हो सकता है। इन रचनाओं को उनके विचारों के विकास में मील के पत्थर मानकर हम उनकी आदर्शवादी विश्वदृष्टि की सामान्य पुष्टि के साथ साथ नई प्रवृत्तियों के उदय और हर अवस्था में बल के परिवर्तन को देख सकते हैं। ऐसे सर्वेक्षण से हमें उनके द्वारा अपने दार्शनिक विवेचन में व्यवहृत ऐतिहासिक आलोचनात्मक और तुलनात्मक पद्धतियों के अंतर्सम्बन्ध को देखने में भी सहायता मिल सकती है।

राधाकृष्णन के यौवनकालीन लेखन में बहुत से ऐसे रुझान दिखाई पड़ते हैं जो बाद में भी टिके रहे। एथिक्स ऑफ वेदान्त नामक उनके एम० ए० के प्रबंध से प्रकट है कि विद्यार्थी जीवन में ही वे अद्वैत दर्शन की प्रचलित अवधारणाओं से असंतुष्ट थे। यह प्रबंध इस आलोचना का उत्तर था कि अद्वैत वेदान्त में व्यावहारिक आचरण का कोई दृढ़ आधार नहीं है। सत्ताईस वर्ष की आयु के पहले ही राधाकृष्णन के बहुत से निबंध द मोनिस्ट माइंड जरनल ऑफ फिलासफी और द इंटरनेशनल जरनल ऑफ एथिक्स जैसी अंतर्राष्ट्रीय ख्याति की पत्रिकाओं में छप चुके थे। उनके विषयों में रुचि का अपूर्व विस्तार दृष्टिगोचर होता है— कर्म और स्वतंत्र संकल्प, 'यूनानी नीतिशास्त्र में प्रकृति और रूढ़ि', युद्ध के सम्बन्ध में एक भारतीय दृष्टिकोण, शिक्षा में नैतिकता और धर्म, 'वर्गसाँ की ईश्वर सम्बन्धी धारणा' आदि।

राधाकृष्णन ने गम्भीर दार्शनिक लेखन के क्षेत्र में प्रवेश अपनी पुस्तक फिलासफी ऑफ रवीन्द्रनाथ टैगोर'' से किया जो १९१८ में प्रकाशित हुई। इसमें यद्यपि टैगोर के चिंतन में वैदिक औपनिषद तत्त्व पर है और उनकी वैष्णव ईश्वरवादी पृष्ठभूमि की कुछ उपेक्षा हुई है। फिर भी कवि के संदेश का सार

राजनयिक, राजनीतिक और सामाजिक—मामलों में खिंचते गए हैं। उनकी इस काल में लिखी पुस्तकें बौद्धिक रुचियों का और भी विस्तार सूचित करती हैं। उनका ध्यान दर्शन के केंद्र से हटकर उसकी परिधि पर तत्त्वमीमांसा से हटकर नीतिशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र और राजनीतिक चिंतन पर चला गया है।

इन पुस्तकों के शीर्षकों से ही यह प्रकट है कि उनके विचार किस ओर बढ़ते रहे हैं। गौतम, द बुद्ध,[१९] धम्मपद,[२०] द टीचिंग ऑफ द बुद्ध,[२१] भारतीय संस्कृति में बौद्ध धर्म के अखण्ड स्थान की गहरी प्रतीति को प्रकट करती हैं। महात्मा गांधी[२२] और ग्रेट इण्डियन्स[२३] राष्ट्रीयता की भावना के रूप में चिंतन धाराओं की व्याख्या की बढ़ती हुई इच्छा को प्रकट करती हैं। एजुकेशन, पॉलिटिक्स एण्ड वार,[२४] फ्रीडम एण्ड कल्चर,[२५] इज दिस पीस?[२६] और द स्पिरिट इन मैन[२७] इस उतनी ही तीव्र चेतना को व्यक्त करती हैं कि हमारे इस जटिल युग में मानवता के सामने जो व्यावहारिक समस्याएं हैं उनके साथ दार्शनिक चिंतन का गठबंधन होना चाहिए। ईस्ट एण्ड वेस्ट इन रिलीजन[२८] ईस्टर्न रिलीजन्स एण्ड वेस्टर्न थॉट,[२९] रिलीजन एण्ड सोसाइटी,[३०] और द रिलीजन ऑफ द स्पिरिट एण्ड द वर्ल्ड्स नीड[३१] में दर्शन तथा व्यापकतम अर्थ में धर्म की मूलभूत एकता में स्थायी आस्था की अभिव्यक्ति मिली है।

यहाँ इन पुस्तकों का उल्लेख उनके कालक्रम से नहीं किया गया है। पर वे सभी १९३२ के बाद लिखी गई थीं। सैद्धांतिक दृष्टि से वे राधाकृष्णन के चिंतन को एन आइडियलिस्ट व्यू ऑफ लाइफ की मान्यताओं से बहुत आगे नहीं ले जातीं। फिर भी उनका बहुत बड़ा महत्त्व है। उनके द्वारा ही राधाकृष्णन को प्रथम कोटि के रचनात्मक दार्शनिक के रूप में मान्यता मिली है, एक मानववादी के रूप में स्वीकार किया गया है जिनकी आवाज़ सदा विवादी और विभाजक तत्त्वों के विरुद्ध मेल मिलाप, एकता और अखंडता के पक्ष में उठती रही है। उनके हाल के लेखन में ऐसी सौम्यता और सहिष्णुता प्रकट होती है जो उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में सदा नहीं दिखाई पड़ती थी। उनमें राष्ट्रीय तथा धार्मिक पक्षपात का पूर्णतः अभाव है। राजनीतिक क्षेत्र में वे शक्ति से अधिक अनुनय को, संगठन से अधिक स्वाधीनता को, मशीन से अधिक आत्मा को मान्यता देने के दृढ़ निश्चय की सूचक हैं। इस बौद्धिक प्रौढ़ता के अनुरूप ही राधाकृष्णन की शैली में भी एक नई गम्भीरता और राजसीयता आ गई है। उनकी पुरानी विवादमूलक उग्रता कुछ कम हो गई है। वह अब पहले जैसी सूक्तिपूर्ण भड़कीली और उत्तेजक तो नहीं है पर सर्वांगीण ज्ञान की अभिव्यक्ति के लिए अधिक विश्वसनीय माध्यम बन गई है।

वे भी भविष्य के लिए गुम रहा है कि धर्म ही दर्शन का प्रारम्भ बिन्दु और प्रधान उद्देश्य बन जाए।'[13] वे लीवनीज विलियम जेम्स बर्गसा और रूसल यूकेन के विचारों का विवेचन करके यह दिखाते हैं कि ये चिंतक मुख्यत अपने ईश्वरवादी धार्मिक रुझानों के कारण ही एक मतावाद को अस्वीकार करते हैं। राधाकृष्णन की किसी अन्य पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती रचना में धार्मिक और दार्शनिक रुझानों के बीच आड़ पर इतना अधिक बल नहीं है। वास्तव में बाद में तो उनका प्रयत्न यह दिखाने का रहा है कि दोनों के बीच कोई मूलभूत विरोध नहीं है।

१९२३ और १९२६ के बाद का काल राधाकृष्णन के जीवन का फल-दायी युग है। इन वर्षों में उनकी तीन महत्त्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हुई—इण्डियन फिलासफी, हिंदू व्यू आफ लाइफ और कल्कि। इनमें से प्रथम जो उनके बीस बरस के परिश्रम और मनन का फल है उनकी महान कृति मानी जाती है। यह पुस्तक विवेचन, आलोचना तुलना और व्याख्या का अपूर्व मिश्रण है। लेखक अद्वैत वेदान्त के प्रति अपने झुकाव को छिपाता नहीं पर वह दूसरी पद्धतियों के सकारात्मक तत्त्वों को तुरन्त पहचानने में समर्थ है। धर्म विरोधी और भौतिकवादी पद्धतियों तक को उनका प्राप्य श्रेय मिलता है। राधाकृष्णन भारतीय चिंतन की मूलभूत एकता को उजागर करते हैं और हिंदू बौद्ध तथा जैन परम्पराओं में निरन्तर पाई जाने वाली सामान्य अवधारणाओं का परीक्षण करते हैं। वे पाश्चात्य लेखकों द्वारा भारतीय दर्शन पर लगाए गए 'आरोपों का भी विवेचन करते हैं और यह सिद्ध करते हैं कि भारतीय चिन्तक न तो धर्म शास्त्रों के ही अन्ध भक्त थे और न नैतिक तथा सामाजिक समस्याओं के प्रति ही उदासीन थे।

इण्डियन फिलासफी[14] का उचित ही बीसवीं शताब्दी के पाण्डित्य में श्रेष्ठतम योगदान के रूप में स्वागत किया गया। इस ग्रन्थ की लोकप्रियता कभी कम नहीं हुई। इसने भारतीय चिंतन की कई विशिष्ट समस्याओं पर बहुत से प्रबन्धों को प्रेरणा दी है और शोधकर्ताओं की एक पूरी पीढ़ी की निहित क्षमताओं को उभारा है। किन्तु इस ग्रन्थ का सबसे प्रभावशाली गुण इसकी व्यापकता नहीं बल्कि इसकी अविरल शैलीगत श्रेष्ठता है। नितान्त पठनीयता में दर्शन के बहुत कम इतिहासों की इससे तुलना हो सकती है।

१९२६ में हिंदू व्यू आफ लाइफ का प्रकाशन हुआ जो राधाकृष्णन के आक्सफोर्ड में दिए गए भाषणों पर आधारित है। इसमें उनका मन्तव्य है कि हिन्दू धर्म कट्टर सिद्धान्तों का पुञ्ज नहीं बल्कि एक जीवन पद्धति है ऐसा दृष्टि-

अलेक्जेंडर तक मूल्य और सत्ता के चरम सम्बन्ध की आदर्शवादी दृष्टि बराबर बनी रही है।' ४३

किन्तु कभी कभी ऐसा जान पडता है कि राधाकृष्णन यह अनुभव करते हैं कि जहा पूर्व मे दर्शन मूल्य की कसौटी पर निरन्तर खरा उतरता रहा है वहाँ पश्चिम उससे भटक जाता रहा है जिसके, विशेष रूप से आधुनिक युग मे, विनाशकारी परिणाम हुए हैं। जोड ने इस पर एक उपयुक्त टिप्पणी की है। राधाकृष्णन की अखण्ड विश्वदृष्टि को उनके मूल्यपरक रुझान की देन मानते हुए, जोड कहते हैं—'व्यक्तित्व की जिस पूर्णता की ओर राधाकृष्णन के पूर्व की धर्मनिरपेक्ष मनीषा से अनुप्राणित उपदेश हमारा आह्वान करते हैं वह किसी न किसी रूप मे मूल्य से जुडी हुई है। वे हमें बताते हैं कि जिस सभ्यता मे मूल्यों और मूल्यों की चेतना का अभाव है वह जीवित नही रह सकती।"४४ वास्तव मे जोड मानते हैं कि इसी प्रत्यय मे पश्चिम के लिए राधाकृष्णन के सन्देश का सार है। मूल्यों के पुनरुत्थान और मूल्यबोध की इस माग मे ही पश्चिम के लिए राधाकृष्णन के सन्देश का सार निहित है।"४५

सक्षेप मे राधाकृष्णन दर्शन से अपेक्षा करते हैं कि वह गतिशील और व्यावहारिक हो सत्ता की सम्पूर्णता और जगत के विभिन्न पक्षों की एकता को मोटे तौर पर स्वीकार करे और मूल्य की पहचान रक्षा और प्रगति मे सहायता दे। दर्शन के स्वरूप और कर्त्तव्य की ऐसी धारणा होने पर यह स्वाभाविक ही है कि चिन्तन की विभिन्न पद्धतियों के विषय मे उनका अपना निर्णय अत्यधिक उदार और सहिष्णु हो। राधाकृष्णन की दृष्टि मे उपरोक्त कसौटियों पर खरी उतरनेवाली सभी पद्धतियों और सिद्धान्तों मे सत्य का एक अश विद्यमान है। बार बार वे यही अनुरोध करते हैं कि जो विचारधाराएँ हम विश्वसनीय न जान पडें उनके विषय मे विवादात्मक की बजाय सहानुभूतिपूर्ण रवैया अपनाना उचित है। अपने एक विख्यात वाक्य मे वे कहते हैं— सहिष्णुता असीम की अक्षयणीयता के प्रति ससीम मन की श्रद्धाजलि है। ४६

राधाकृष्णन का विश्वास है कि हम चिन्तकों के सवश्रेष्ठ अश की व्याख्या करनी चाहिए उनके हीनतम अश की नही।४७ कवियों का मूल्याकन हम उनकी उच्चतम प्रेरणाओं के आधार पर करते हैं उन पक्षों के आधार पर नहीं जो उन्होंने अस्पष्टता अथवा आलस्य के क्षणों मे या हों रचे हों। तो फिर दार्शनिक चिन्तन का मूल्याकन उसकी सबसे प्रखर अन्तर्दृष्टियों के क्षणों के आधार पर करने मे हम क्यों झिझकना चाहिए? दर्शन मे ऐतिहासिक और तुलनात्मक पद्धतियों के उपयोग मे राधाकृष्णन की अपनी सफलता भी चिन्तकों

४

दर्शन के सम्बन्ध में राधाकृष्णन का दृष्टिकोण संकीर्ण अर्थ में विशेषज्ञ जैसा नहीं है। 'दर्शन अवधारणाएँ रचना नहीं, बल्कि अंतर्दृष्टियों का प्रदान है।'[२] इस कथन से, दर्शन से उनकी अपेक्षाओं का आभास मिलता है। उन्होंने बार-बार यह चेतावनी दी है कि दर्शन असम्बद्ध अवधारणाओं के विषय में निरंतर विवाद का नाम नहीं। वह जीवन से जुड़ा हुआ है। चिंतन जीवन से भिन्न है पर वह उसके प्रति निरपेक्ष नहीं रह सकता। मानव-जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वह मूल्यों में निमग्न है। इसलिए दर्शन द्वारा मूल्य का समर्थन और रक्षा करने का बहुमुखी प्रयास आवश्यक है और इसकी निष्पत्ति एक विश्वदृष्टि में होनी चाहिए। यदि उसे उपादेय होना है तो वह 'शुद्ध बौद्धिक कार्य' नहीं रह सकता। उसे बढ़कर आत्मा की चिकित्सा का रूप लेना चाहिए।

उनके इस रुझान को देखते हुए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि ज्ञानमीमांसा के हाल के विवाद—विशेषकर व जिनमें तार्किक प्रत्यक्षवादी बड़े उत्साह से जुटे रहते हैं—उन्हें बहुत आकर्षित नहीं करते। यह नहीं कि ज्ञानमीमांसा के प्रति वे उदासीन हैं। जैसा कि हम उनके अंतःप्रज्ञा विषयक विचारों के सम्बन्ध में देखेंगे, राधाकृष्णन यह जानते हैं कि दार्शनिक मतभेद अंततः 'जानने की विधियों' के विषय में मतभेद ही हैं। पर उन्हें लगता है कि जब ज्ञानमीमांसा अति विशेषीकृत हो जाती है तो वह दर्शन की सांस्कृतिक प्रासंगिकता को निगलने लगती है। और न वे इस आशंका में अकेले हैं। जोड ने इस विषय में कहा है—'दार्शनिक अपनी विलगता का गुण समझते हैं, और ज्ञानमीमांसा के शुष्क विवाद में उलझकर कोई तत्त्वगत प्रविधि रचने में लगे रहते हैं। व्यावहारिक समस्याओं से इस प्रविधि का विलगता से इस युगपूर्ण उक्ति को बल मिलता है कि दर्शन की समस्याएँ जीवन की समस्याओं के समाधान से अधिक उनसे पलायन है।'[४]

कुछ तो इस कारण कि दर्शन प्रायः बड़े संकीर्ण साँचों में ढलता रहा है और कुछ इस कारण कि मानव-जाति के इतिहास ने सदा दर्शन द्वारा प्रस्तुत आदर्शों का समर्थन नहीं किया है लगभग प्रत्येक युग में यह प्रश्न पूछा गया है— क्या दर्शन की कोई भी उपादेयता है? इस प्रश्न का अवज्ञापूर्वक नहीं टाला जा सकता और न इसे केवल अज्ञान या पूर्वाग्रह की उपज ही बताया जा सकता है। दर्शन का इतिहास सफलताओं का ही अबाधित इतिहास नहीं रहा है। राधाकृष्णन 'तीस शताब्दियों के अविच्छिन्न दार्शनिक प्रयासों से

ससीम स्व की स्थिति, ज्ञान के साधन और नैतिक आचरण की कसौटियों के विषय में उनके मूलभूत विचारों में कोई गम्भीर बहकाव नहीं हुआ है। उनके प्रारम्भिक और परवर्ती विचारों में निश्चय ही इतना अन्तर नहीं पड़ा है जितना बर्ट्रेण्ड रसल के एनलिसिस आफ माइण्ड और प्राबलेम्स ऑफ फिलासफी में अभिव्यक्त प्रारम्भिक और परवर्ती विचारों में दिखाई देता है।

क्या राधाकृष्णन के विचार इतने पर्याप्त निश्चित और स्थिर हैं कि उनके दर्शन के ऊपर कोई लेबिल लगाना उचित हो? एक सीमा तक इस प्रश्न का उत्तर सकारात्मक हो सकता है। हम उन्हें आदर्शवादी कह सकते हैं। अपने कर्म जीवन की किसी भी अवस्था में राधाकृष्णन आदर्शवादी के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं रहे। उनको 'आध्यात्मवादी' भी कहा जा सकता है। वे कहते हैं कि सत्य आध्यात्मिक है। सत्ता का चरम तत्त्व ठोस स्थिर और अचेतन जड़ पदार्थ नहीं। वह आत्मा का सार ही है।[४६] पर वे स्वयं 'आध्यात्मवादी' की अपेक्षा आदर्शवादी शब्द अधिक पसन्द करते हैं।

राधाकृष्णन आदर्शवाद को विश्वव्यापी स्वीकृति के योग्य दर्शन मानते हैं। 'यदि हम दार्शनिक सम्प्रदायों के बीच छिड़े वादविवाद के शोर में बह बिना उनको बनाने वाली गहरी धाराओं का ध्यान से देखें तो हम आदर्शवाद की अन्तर्दृष्टियों पर आग्रह की ही प्रबल प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है, चाहे उनकी भाषा और शैली कितनी ही भिन्न क्यों न हो।'[४] यह प्रवृत्ति इस विचार के लिए प्रतिबद्ध नहीं है कि जगत मन का बना है, न वह किसी संकीर्ण ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त पर आग्रह करती है। पर एक बात पर यह दृढ़ है—'इसमें उस विचार से कोई साम्य नहीं जो सत्ता को तर्कनाहीन अन्ध प्रवृत्ति या असाध्य दयनीय भूल मानता है। यह प्रवृत्ति जीवन को सार्थक और साद्देश्य मानती है।'[४१] राधाकृष्णन आदर्शवाद को न केवल इसी अर्थ में स्वीकार करते हैं बल्कि इसके विपरीत पड़ने वाले सभी सिद्धान्तों को अस्वीकार करते हैं। किसी न किसी संदर्भ में उन्होंने प्रकृतिवाद, वैज्ञानिक भौतिकवाद, रहस्यवादी राष्ट्रवाद आदि की जाँच करके उन्हें—और प्रत्यक्षवादी अर्थ में मानववाद को भी—या तो अपर्याप्त अथवा एकांगी और भ्रामक पाया है।

किन्तु आदर्शवाद शब्द का अर्थबोधन बहुत व्यापक है और कई भिन्न प्रकार के दर्शनों के लिए उसका उपयोग किया गया है। इसलिए यह भी पूछा जा सकता है कि राधाकृष्णन किसी विशेष प्रकार के आदर्शवाद के अनुयायी हैं अथवा आदर्शवादी दृष्टिकोण के साथ सामान्य सम्बद्धता से सन्तुष्ट हो जाते

का उनके सर्वश्रेष्ठ अंश के आधार पर मूल्यांकन करने के इस सिद्धांत का ही परिणाम है। उनका विश्वास है कि दूसरों के विचारों के विवेचन को नकारात्मक पक्ष पर पूरा पूरा ध्यान तो देना चाहिए पर उसका बल सकारात्मक तत्त्वों पर होना चाहिए। इस विश्वास के कारण वे मायावाद जैसी घोर भौतिकवादी विचारधारा की प्रशंसा करने में भी नहीं हिचके हैं जो कई दृष्टियों में राधाकृष्णन की अपनी बुनियादी मान्यताओं के सर्वथा विपरीत है। अपने विपरीत दृष्टिकोणों के प्रति उनकी सहिष्णुता का उल्लेख करते हुए एक अर्वाचीन लेखक ने लिखा है—'राधाकृष्णन की दूसरे दृष्टिकोणों के साथ कल्पनाशील सहानुभूति इतनी अधिक है कि उसमें हमें वाचस्पति मिश्र का स्मरण होता है जिन्होंने भारतीय चिन्तन की लगभग सभी पद्धतियों पर टीका की और प्रत्येक पर इस प्रकार लिखा मानो वे उनके सिद्धांतों में स्वयं विश्वास करते हों।'[४८] इस 'कल्पनाशील सहानुभूति' का महत्त्व हमारे अपने इस युग में विशेष रूप से अधिक है जब वैचारिक मतांधता के कारण इस बात की आशंका है कि मानव जाति ईसाई धार्मिक अत्याचारों के अंधयुग की ओर लौट जाए और पुनर्जागरण काल से अब तक उदार चिन्तन की जो उपलब्धियाँ रही हैं वे नष्ट हो जाएँ।

५

किन्तु बहुत से दृष्टिकोणों से सहानुभूति का अर्थ उनमें से किसी एक को अधिक पसन्द न करना नहीं। राधाकृष्णन की सहिष्णुता और दृष्टि की व्यापकता का कभी-कभी यह अर्थ लगाया जाता है कि मूलभूत प्रश्नों पर वे कोई निर्णय नहीं लेना चाहते। ऐसा समझना जितना अनुचित है उतना ही गलत भी। यह सही है कि राधाकृष्णन के कुछेक ग्रंथों पर अस्पष्टता का दोष लगाया जा सकता है। उनके बहुत से कथन कोई बात सिद्ध करने के बजाय प्रेरणा देने और सुझाने का ही काम करते हैं। ऐसे कथन वे उस चेतना से करते हुए जान पड़ते हैं कि स्पष्टता की कमी सघनता और प्रेरणा की तीव्रता से पूरी हो जाती है। किन्तु दर्शन के सभी मूलभूत प्रश्नों पर उन्होंने निश्चित विचार भी प्रकट किए हैं।

यह सच है कि इन विचारों को कट्टरतापूर्वक माना अथवा अभिव्यक्त नहीं किया गया है। बीच बीच में उन्हें परवर्ती अनुभव और चिन्तन के आधार पर दोहराया भी गया है। राधाकृष्णन ने दर्शन की विशिष्ट समस्याओं पर अपने विचारों के तल में सत्य का एक विश्वदृष्टि के चौखटे के भीतर संग्रहीत करने का प्रयास किया है। इस प्रक्रिया में उनके चिंतन की एक अवस्था से दूसरी अवस्था में अनिवार्य रूप से बदल में अंतर पड़ता रहा है। पर सत्ता के स्वरूप

विशेषणो का प्रयाग है जो सामान्यत एक साथ नही प्रयुक्त हो सकते। पर यह स्थिति अपरिहार्य है। चरम सत्ता 'सर्वथा भिन्न है' ऐसा अज्ञात है जो हमारी अवधारणाओ द्वारा गम्य नही, या हमारी समझ द्वारा पकड में नही आ सकता। उसका केवल नकारात्मक रूप म ही अथवा प्रतीयमान विरोधी विवरणा द्वारा ही वणन हो सकता है।"[४६]

पूववर्ती पराग्राफ के अतिम वाक्य मे प्रतीयमान शब्द से इस कठिन प्रश्न के सम्बध मे राधाकृष्णन के रुख का आभास हमे मिलता है। परम सत्ता की हम 'विरोधो से आच्छादित' रूप म कल्पना नही कर सकते, और फिर भी जब हम उसके वणन का निश्चित प्रयास करने लगते हैं तो हम विरोधी प्रतीत होने वाले शब्दो का प्रयोग करने को बाध्य होते हैं। इस कठिनाई से बचने के लिए नकारात्मक धमदशन का सहारा लिया गया है और ईश्वर को कहा गया है यह नही पर यह अथवा कवल नेति, नेति'।"[६]
राधाकृष्णन इस विधि के उपयोग म कोई बुराई नही समझते और बहुत सी रचनाओ म उन्होने इसका बडा प्रभावकारी उपयोग किया है।

इसका एक अच्छा उदाहरण द रिलीजन की नीड म मिलता है— चरम सत्ता का पूणज्ञान कठिन है और उसका वणन असम्भव। हम इसका निश्चय तो हो सकता है कि ईश्वर क्या नही है पर क्या है इसका नहीं। वह कोई प्रकट होने वाला देवता नही , न कोई अत्यधिक चतुर यान्त्रिक इजीनियर है न जगत के काम म चाहे जब हस्तक्षेप करने वाला उसका आधिभौतिक स्वामी। वह एसा ईश्वर नही जिसके रूप किसी नियम द्वारा अधीन हैं अथवा जो पक्षपात करने वाला और प्रिय अप्रिय का अतर करने वाला है।[४७] इसका यह अथ नही कि परम सत्ता म कोई निश्चित तत्त्व नही। वे स्पष्ट करते हुए कहते है— इस नकारात्मक विवरण का उद्देश्य है ईश्वर की, उस पूणत अन्य' की अनुभवातीतता के विषय म आत्मा के भाव का व्यक्त करना, जिसके विषय में नकार के अतिरिक्त और कोई निर्देश नही हो सकता।[४८] नकारात्मक दृष्टिकोण का उद्देश्य उसे उसके सुनिश्चित अस्तित्व से वचित करना नहीं बल्कि उसके स्वरूप का पूणत समझने मे हमारी अवधारणाओ की अपर्याप्तता को प्रकट करना है। किन्तु 'ईश्वर की अक्षय सुनिश्चितता समस्त अवधारणात्मक रूपो म से फूटती रहती है।'[४९]

यदि चरम सत्ता अवयक्तिक निरपेक्ष तत्त्व है जिसके बारे म कोई भी निश्चित निर्देश नही किया जा सकता, तो वयक्तिक ईश्वर की अवधारणा को हम क्या मूल्य दे सकते हैं? यह दशन और धम दोनो ही का केन्द्रीय प्रश्न

हैं। इस बात का उत्तर भी बहुत निश्चित हो सकता है। राधाकृष्णन ने यह बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि आदर्शवाद ने पूर्व या पश्चिम में जितने भी रूप लिये हैं उनमें से निरपेक्ष आदर्शवाद ही, विशेषकर जिस रूप में शंकराचार्य ने उसका प्रतिपादन किया है, उनको सबसे प्रिय है। वे कहते हैं— 'मेरा मत है कि जो पद्धतियां दर्शन का खेल सीधे-सीधे और ईमानदारी के साथ पूर्व कल्पनाओं से मुक्त होकर और धार्मिक तटस्थता के साथ खेलती हैं वे अन्त में निरपेक्ष आदर्शवाद में ही जा पहुँचती हैं।' [४२] उनका यह भी विश्वास है कि बहुत से आधुनिक यूरोपीय चिन्तक केवल अपने धार्मिक सम्बन्धों के कारण ही निरपेक्ष आदर्शवाद को मानने में असमर्थ रहे हैं यद्यपि अधिकतर वे स्वयं भी इससे अवगत नहीं।

एक बार यह निश्चय कर लेने के बाद कि शंकराचार्य का दृष्टिकोण ही सबसे अधिक संतोषजनक है राधाकृष्णन स्वभावतः ही निर्वैयक्तिक ब्रह्म को चरम सत्ता मानते हैं। इसका अर्थ है कि सर्वोच्च दार्शनिक अनुभूति में वैयक्तिक ईश्वर की धारणा से परे जाना आवश्यक है। 'यद्यपि ईश्वर का वैयक्तिक स्वरूप कुछ धार्मिक आवश्यकताएँ पूरी करता है, कुछ अन्य आवश्यकताएं उसके द्वारा पूरी नहीं होतीं। सर्वोच्च आध्यात्मिक अनुभूति में हम विराम और परिपूर्णता का, नित्यता और सम्पूर्णता का भान होता है। इन आवश्यकताओं ने मानव चिंतन के प्रारम्भ ही से ईश्वर को ऐसी रागहीन सत्ता मानने के लिए प्रेरित किया है जो विश्व जीवन की विरामहीन उथल-पुथल के परे है।"[४३] एक बार ऐसी अवधारणा के चरम रूप में विकसित होने पर कोई ऐसा देवता, जिसकी निरपेक्षता चाहे कितनी ही कम मात्रा में क्यों न हो, सीमित हो हमें सन्तुष्ट नहीं कर सकता। "यदि ईश्वर जगत् से सम्बद्ध है काल के अधीन है यदि उसका कार्य मनुष्य की स्वतन्त्रता और जीवन की परिस्थितियों द्वारा सीमित होता है तो अपने जीवन के गुण में वह चाहे जितना असीम क्यों न हो, शक्ति, ज्ञान और औचित्य में वह ईश्वर की ही एक अभिव्यक्ति मात्र है।"[४४]

मानव मन की सर्वोच्च आकांक्षा है "सत्य को अपने आपमें, आदि में—बल्कि काल से पहले और अनेकता से भी पहले ऋग्वेद के शब्दों में उस परम एक को जानना। चरम सत्ता 'शुद्ध, एक और अव्यक्त है, कुछ नहीं और सभी कुछ जो प्रत्येक निश्चित अभिव्यक्ति रूप से परे है और फिर भी समस्त अभिव्यक्ति का आधार है वह एक जिसमें समस्त प्राप्त है और फिर भी समस्त विलीन है।' यह विवरण भले ही हमें चकरा दे क्योंकि इसमें एक

कहना है— उनका सिद्धान्त ऐसा है जिसे किसी भी सगत निरपेक्ष आदर्शवाद को मानना पडेगा, अर्थात निरपेक्ष ही एकमात्र चरम और सम्पूर्ण सत्ता है, और अनुभूत जगत स्पष्ट ही गौण सत्ता है सापेक्ष और पराधीन, पर अनुभूत जगत इसी कारण असत्य नहीं है। [८] वास्तव म राधाकृष्णन का आग्रह है कि शकर के दर्शन की तर्कसगत व्याख्या करने पर उस जगत की सत्ता का पूर्ण अस्वीकार नहीं माना जा सकता। इस कथन के समर्थन म व माया की अवधारणा पर भी विचार करत हैं। व मानत हैं कि माया के सिद्धान्त का भी निरपेक्ष के नेतिमूलक वर्णन की भाति भारतीय चिन्तकों ने विशेष उद्देश्य से प्रयोग किया है। यह उद्देश्य है काल और नित्यता के बीच, प्रतीति और सत्य के बीच व्यवधान को सूचित करना।' [६] माया जगत की भगुरता [७] की सूचक है अनुभवसिद्ध स्व और उसके अनुरूप जगत के गोचर स्वरूप की सूचक है। माया का यह अर्थ नहीं कि अनुभूत जगत अपने भीतर स्थित आत्माओं सहित भ्रम मात्र है क्योंकि ब्रह्माण्ड का समस्त प्रयास एक परमात्मा की ओर उन्मुख और उसी के द्वारा सिद्ध है।" [७१] यह परमात्मा प्रत्येक वस्तु से पृथक होकर भी प्रत्येक वस्तु म आलिप्त है।

माया का सिद्धान्त सर्वोच्च सत्ता के निम्नतर कोटियों को अलग करने, निरपेक्ष सत्य और निर्धारित सत्य के बीच अन्तर को मानव मन पर अकित करने के प्रयास का सातत्य मात्र है। यह तथ्य व्यावहारिक है—जो कुछ नश्वर है उससे ध्यान हटाकर उस पर स्थित करना जो समस्त मूल्य का आधार है। जब हिन्दू चिन्तक हमसे अपने आपको माया से मुक्त कर लेने की बात कहते हैं तो वे हम वशीभूत रखने वाले मिथ्या मूल्यों के बन्धनों को तोडने के लिए कहते हैं। वे जीवन को भ्रम समझने अथवा ससार के कल्याण के प्रति उदासीन होने की माँग नहीं करते। [७२] यह मानना पडेगा कि यह व्याख्या शकराचार्य के निरपेक्षवाद की कठोरता को कुछ कम करती है यद्यपि विद्वज्जन इस बात म शायद असहमत हों कि शास्त्रों के आधार पर ऐसी व्याख्या उचित है।

माया के सिद्धान्त का एक और भी पक्ष है जिसकी ओर राधाकृष्णन ने प्रायः ध्यान खींचा है। यह रहस्य का पक्ष है जो मानव स्वभाव के धर्मविमुग्ध और कल्पनाप्रिय पक्ष को रुचिकर लगता है। निरपेक्ष असीम सम्भावनाओं का आदर्श निवास है। [७३] उनमें से एक विशेष सम्भावना के कारण जगत की सृष्टि हुई है। पर ऐसा क्यों हुआ है? हम नहीं जानते, और 'माया' शब्द केवल इस रहस्य की थाह पाने म मानव मन की असमर्थता का ही सूचित

है। 'धर्म के दर्शन की महान समस्या यह रही है कि निरपेक्ष सत्ता के नित्य सम्पूर्ण स्वरूप का उसके एक आत्म निर्णायक तत्वमूलक स्वरूप के साथ सामंजस्य कैसे किया जाए जो एक कालगत विकास में व्यक्त होता है जिसमें प्रकृति और मनुष्य दोनों शामिल हैं।'[६] निरपेक्ष सत्ता को स्वीकार कर लेने पर क्या ईश्वर अनावश्यक हो जाता है?

राधाकृष्णन का उत्तर है कि वैयक्तिक ईश्वर कुछ बड़ी गहन आवश्यकताओं को पूरा करता है। "हम उस निरपेक्ष की पूजा नहीं कर सकते जिसे किसी ने नहीं देखा न कोई देख सकता है, जो ऐसे प्रकाश में रहता है जिस तक कोई नहीं पहुँच सकता।[६१] ससीम मन निरपेक्ष को केवल ईश्वर के रूप में ही कल्पना कर सकता है।' सर्वोच्च-सत्ता व्यक्ति को बहुत से गुणों से युक्त जान पड़ती है। वैयक्तिक ईश्वर की अवधारणा सर्वोच्च तर्कसम्मत सत्य का गहनतम धार्मिक आस्था के साथ संगम है। यह वैयक्तिक ईश्वर सच्ची पूजा और भक्ति का पात्र है, मनुष्य की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के प्रति उदासीन कोई गैर नैतिक देवता नहीं।[६२] तो फिर सत्ता के दो पक्ष हैं, और इन दो पक्षों के अनुरूप दो दिशाएँ हैं जिनसे सत्ता को देखा जा सकता है।' सत्य के वैयक्तिकोपरि और वैयक्तिक प्रतिरूप एक ही सत्ता को अभिव्यक्त करने के चरम और आपेक्षिक प्रकार हैं।[३]

ईश्वर और निरपेक्ष परस्पर निषेधक अवधारणाएँ नहीं हैं और न वे असम्बद्ध हैं। 'जगत का स्रष्टा, पालक और न्यायकर्ता" ईश्वर चरम तत्त्व से पृथक किसी तत्त्व अथवा शक्ति का सूचक नहीं। वह मनुष्य की दिशा से निरपेक्ष"[६४] है। दोनों ही असीम और दिव्य हैं, समस्त ससीम और सीमित से उच्च हैं। पर जहाँ "निरपेक्ष अनुभवोपरि दिव्य है ईश्वर विश्वीय दिव्य है। कहना चाहिए ईश्वर संसार की प्रतिभा उसका आधार है।"[६५] इस प्रकार राधाकृष्णन मूलभूत प्रश्नों पर शंकराचार्य की स्थिति स्वीकार करते हैं पर उनका कट्टरतापूर्वक अनुसरण नहीं करते। वे शंकर के सकारात्मक पक्ष से आकर्षित होते हैं और अनुभव करते हैं कि मूलतः वह ठीक है। पर वे यह भी अनुभव करते हैं कि अन्य सम्प्रदायों की—विशेषकर रामानुज की—आलोचना भी सर्वथा निराधार नहीं है।[६६] तत्वमीमांसीय अर्थ में शंकर सत्य के प्रतिनिधि हैं जो निरपेक्ष का सत्य है। 'पर रामानुज का मत सत्य की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है।[६७] अवश्य ही शंकर की दृष्टि से तो चरम सत्य की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती।

अपने राधाकृष्णन्स मेटाफिजिक्स एण्ड एथिक्स निबन्ध में मूर का

पहुंचे थे कि आत्मा और ब्रह्म बुद्धि के परे है और उनको केवल अन्तःप्रज्ञा के द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है। पर उन्होंने यह स्पष्ट दर्शाने का कष्ट नहीं किया कि यह अनुभव भी बुद्धि व तर्कपूर्ण ज्ञान में निहित और पूर्वानुमानित ज्ञान का एक ही रूप है और बुद्धि इस उच्च अनुभूति की अनिवार्यतः विरोधी नहीं है बल्कि वह उसमें आत्मसात है और उसके द्वारा पूर्ण होती है।[७९]

राधाकृष्णन ज्ञान के एक रूप के नाते ही अन्तःप्रज्ञा को दर्शन में महत्वपूर्ण स्थान देते हैं। रहस्यात्मक चेतना के लिए अन्तःप्रज्ञा शब्द का प्रयोग उनके यहाँ विरल है। रहस्यात्मक चेतना के लिए वे 'अखण्ड अनुभूति' पदावली का प्रयोग अधिक पसन्द करते हैं। किन्तु वस्तुतः बार सामान्य प्रयोग में 'अन्तःप्रज्ञा' शब्द से जुड़ी हुई अस्पष्टता राधाकृष्णन के विवेचन में भी घुस जाती है। वे स्वयं भी इस बारे में सचेत हैं। वे कहते हैं— दुर्भाग्यवश हम वैज्ञानिक प्रतिभा, काव्यात्मक अन्तर्दृष्टि, नैतिक अन्तरात्मा तथा धार्मिक आस्था सभी के लिए एक ही शब्द अन्तःप्रज्ञा व्यवहार करने को बाध्य होते हैं। यद्यपि ये विविध सचरण मन की अखण्ड क्रिया को ही सूचित करते हैं, फिर भी यह क्रिया कुछ क्षेत्रों में ज्ञान की ओर उन्मुख है और कुछ में उपभोग या सृष्टि की ओर।[८०]

अन्तःप्रज्ञा को न केवल ज्ञान का एक साधन मानना चाहिए बल्कि उसे चिन्तन का एक रूप भी समझना चाहिए। अन्तःप्रज्ञा स्वाधीन नहीं है बल्कि निश्चित रूप से चिन्तन के अधीन है और चिन्तन के स्वरूप में ही निहित है। वह गतिपूर्वक निरन्तर चिन्तन के साथ रहती है और ज्ञान के अवधारणापरक सार को भेद कर उसके तल में जीवन्त सत्य तक जा पहुँचती है।[८१] किन्तु अन्तःप्रज्ञा तर्कसंगत चिन्तन के साथ असतत होते हुए भी उससे गुणात्मक रूप में भिन्न है।' तर्कसंगत और अन्तःप्रज्ञ दोनों प्रकार के ज्ञान का औचित्य है और उनके अपने अपने अलग क्षेत्र हैं। दोनों ही उपयोगी हैं और प्रत्येक का अपना विशिष्ट उद्देश्य होता है। तर्कसंगत चिन्तन हमारे लिए इस दुनिया की परिस्थितियों को जानना और अपने हित के लिए उन पर नियन्त्रण करना सम्भव बनाता है। ठीक से जाने बिना हम सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर सकते। पर यदि हम वस्तुओं को उनकी अद्वितीयता में, उनकी अपरिहार्य यथार्थता में जानना चाहते हैं तो तर्कसंगत चिन्तन से परे जाना आवश्यक है।[८२] यह बात ध्यान देने योग्य है कि यहाँ बल तर्कसंगत चिन्तन से परे जाने पर है उसके परित्याग पर नहीं।

करता है। 'माया से यह अभिप्राय नहीं कि संसार एक भ्रम है अथवा सर्वथा अस्तित्वहीन है। संसार अपरिमेय और अपरिमित में भिन्न एक सीमा निर्धारण है। पर यह सीमा निर्धारण है ही क्यों? जब तक हम अनुभवसिद्धता के स्तर पर हैं इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया जा सकता।' ७४ राधाकृष्णन का दावा है कि दर्शन का सम्पूर्ण इतिहास भारत में तथा यूरोप में 'सृष्टि की समस्या को सुलझाने में मानव-मन की असमर्थता का एक दीर्घ उदाहरण' ७५ रहा है।

इसका अर्थ है कि न केवल निरपेक्ष का स्वरूप अपरिभाषेय है बल्कि अनुभूत जगत से उसका सम्बन्ध भी उतना ही अपरिभाषेय है। 'इस बारे में कि मूल सत्ता जिसमें दिव्य ज्योति अप्रतिहत जलती रहती है किस प्रकार समस्त अनुभूत प्राणियों का स्रोत और उद्गम हो सकती है हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि यह एक रहस्य है माया है।'७६ राधाकृष्णन आगे कहते हैं—'इस रहस्य को श्रद्धापूर्वक स्वीकार करना आवश्यक है।' ७७ हमारी श्रद्धा प्राप्त करने के अलावा यह रहस्य हमारी अचरज की भावना को भी जाग्रत करता है और इस जगत को और भी अधिक रोचक बना देता है। जिन अंशों में राधाकृष्णन माया की कार्यात्मक व्यंजनाओं का विवेचन करते हैं, उन पर टगोर का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है।

६

ससीम जगत में निरपेक्ष के रूपायन के विषय में यह गहरी रहस्य भावना राधाकृष्णन के अंतःप्रज्ञा के सिद्धान्त में प्रतिबिम्बित होती है। वे कहते हैं—'संसार की तर्कनातीतता को बुद्धि स्पष्ट देख पाती है पर उसकी रहस्यात्मकता को केवल अंतःप्रज्ञा ही ग्रहण कर सकती है।'७८ यह हमको ज्ञान मीमांसा के शाश्वत प्रश्न, सत्य के बौद्धिक ज्ञान और उसकी तात्कालिक चेतना के बीच वैषम्य की ओर ले जाता है। राधाकृष्णन द्वारा इस विवादपूर्ण प्रश्न का विवेचन न केवल व्यापक है बल्कि परम्परा से अंतःप्रज्ञा के पक्ष या विपक्ष में जो युक्तियाँ प्रस्तुत की जाती रही हैं उनसे मुख्य रूप में भिन्न है।

अंतःप्रज्ञा के विषय में राधाकृष्णन की मुख्य स्थापना यह है कि उसे तर्कना का विकल्प नहीं मानना चाहिए, और न उसे दार्शनिक प्रयास से विपरीत रहस्यानुभूति में प्रयुक्त ज्ञान का एक उपाय ही समझना चाहिए। अंतःप्रज्ञा और तर्कना के बीच अधिक संतोषजनक आधार पर सम्बन्ध स्थापित करके, राधाकृष्णन ने कट्टरपंथी अद्वैत वेदांत के एक गम्भीर दोष को दूर करने का प्रयास किया है। इस बात को आदर्शवाद के ऊपर एक लेखक ने हाल में इन शब्दों में भलीभांति रखा है—"शंकर के अनुयायी वेदान्ती इस निष्कर्ष पर

इसी बात में है कि दर्शन में तर्कना पद्धति का प्रयोग अधिक व्यापक रीति से करने की क्षमता है। दर्शन की रीति भी ठीक विज्ञान की रीति ही है। पर दर्शन समस्त मानव अनुभव के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाता है, केवल यान्त्रिकी विज्ञान द्वारा प्राप्त सकारात्मक तथ्यों के प्रति ही नहीं।'[८८] इस प्रकार ही विज्ञान के आधार तत्त्व दर्शन के प्रश्न बनते हैं।'[८९] बुद्धि "जो कुछ हम चाहते हैं वह सब हमें नहीं देती, केवल इसी कारण"[९] अविश्वसनीय नहीं सिद्ध हो जाती।

राधाकृष्णन तर्क को तुच्छ बताने और अन्तःप्रज्ञा के नाम पर दर्शन को निगमन और स्पष्टीकरण की बजाय आवेग और भावना का विषय घोषित करने के खतरे के विरुद्ध बार बार चेतावनी देते हैं। वे तात्कालिक अनुभव के पैगम्बरों को स्मरण दिलाते हैं— दर्शन तर्कसंगत आवश्यकताओं से उत्पन्न होता है और सैद्धान्तिक संताप उसका लक्ष्य है।[९१] दर्शन तर्कसंगत व्याख्या से कम में काम नहीं चला सकता, यद्यपि वह उससे अधिक अवश्य चाहता है। अन्तःप्रज्ञा को यदि बुद्धि का पर्याप्त सहारा प्राप्त न हो, तो वह "आत्मसन्तुष्ट प्राचीनपरकता में जा गिरती है।'[९२] यदि अन्तःप्रज्ञा के सार को गहरा करना है तो उसे बौद्धिक बनाना आवश्यक है। अन्तःप्रज्ञा का प्रयोग 'ऐसे सिद्धान्तों के बचाव के लिए, जो बौद्धिक आधार पर उचित नहीं ठहराए जाते या नहीं ठहराए जा सकते'[९३] कभी नहीं करना चाहिए।

राधाकृष्णन हमें याद दिलाते हैं कि प्राचीन भारतीय चिन्तक अन्तःप्रज्ञा पर अत्यधिक निर्भरता के खतरों को पहचानते थे। वे जानते थे कि योग की भाँति अन्तःप्रज्ञा के लिए भी बहुत तैयारी की आवश्यकता होती है और उसका तभी भरोसा किया जा सकता है जब सत्य का अन्वेषी उसके उपयोग के लिए सुसज्जित हो। वह न केवल निश्चित बौद्धिक विकास की बल्कि पर्याप्त नैतिक तैयारी की भी, अपेक्षा रखती है जिसके बिना अन्तःप्रज्ञात्मक विधि से सर्वोच्च फल प्राप्त नहीं हो सकता।[४] राधाकृष्णन प्राचीनों के इस विचार से सहमत हैं कि सच्ची अन्तःप्रज्ञा में पहले मन को वासना और चिन्ता से मुक्त होना चाहिए 'परम आन्तरिक शुद्धता और आत्मनियन्त्रण'[९४] होना चाहिए और आत्मा को पहले अदृश्य सत्ता के साथ सामंजस्यपूर्ण बनाना[९५] चाहिए। अन्तःप्रज्ञा अनवरत सृजनात्मक प्रयत्न की माँग करती है और प्रायः 'अध्ययन और विश्लेषण की लम्बी और कठिन प्रक्रिया का परिणाम'[९६] होती है। अनियन्त्रित कल्पना शक्ति का नाम अन्तःप्रज्ञा नहीं। "जो कल्पना शक्ति अन्तःप्रज्ञा द्वारा अनुप्राणित नहीं वो कल्पना शक्ति निरा दिवा

अन्तःप्रज्ञा तथा ज्ञान के अन्य रूपों के बीच राधाकृष्णन कोई बड़ा सम्भ्रम नहीं देखते। 'मनुष्य का ज्ञान मोटे तौर पर तीन प्रकार का होता है—प्रत्यक्ष, तर्कमूलक और अन्तःप्रज्ञात्मक, मानस अथवा इन्द्रिय मन, विज्ञान अथवा तर्कबुद्धि, और आनन्द जिसे वर्तमान उद्देश्यों के लिए आध्यात्मिक अन्तःप्रज्ञा कह सकते हैं, तीनों ही मानव चेतना के अंग हैं।"८३ जो लोग अन्तःप्रज्ञा को ज्ञान के अन्य रूपों से श्रेष्ठ बताते हैं वे इस भ्रान्त धारणा से प्रारम्भ करते हैं कि मन पृथक् 'क्षमताओं का पुंज मात्र है। पर ' मानव मन खण्ड रूप में काम नहीं करता। यह मानना आवश्यक नहीं कि इन्द्रिया के स्तर पर अन्तःप्रज्ञा के लिए कोई काम नहीं अथवा अन्तःप्रज्ञा के स्तर पर बुद्धि के लिए कोई काम नहीं। अन्तःप्रज्ञा को अखण्ड अन्तर्दृष्टि कहने में इंगित यही है कि उसमें सम्पूर्ण मन सक्रिय होता है।' ८४

ज्ञान प्रक्रिया की समग्रता पर यह बल राधाकृष्णन के अन्तःप्रज्ञा के सिद्धान्त को जेस्टाल्ट मनोविज्ञान के दार्शनिक आधार के बहुत समीप ले आता है। वर्दीमर और कोफ्का की भाँति राधाकृष्णन भी इन्द्रिय-बोध के कार्य के —इन्द्रिय बोध को व्यापकतम अर्थ में लें तो—सर्व-समावेशी स्वरूप पर आग्रह करते हैं। वे कहते हैं— 'चिंतन के समस्त गतिशील कार्य, चाहे वे शतरंज के खेल में हों चाहे किसी गणित की समस्या को लेकर समग्र परिस्थिति के अन्तःप्रज्ञात्मक बोध द्वारा नियन्त्रित होते हैं।"८५ यह जीवन की साधारण प्रक्रियाओं में निहित सरल चिन्तन से लगाकर तर्कसंगत युक्ति निकालने की जटिल पद्धतियों तक, सभी स्तरों के बारे में सही है। प्रत्येक तर्कसिद्ध प्रमाण में बौद्धिक समग्रता का बोध, विभिन्न चरणों द्वारा पुष्ट सम्पूर्णता की अन्तःप्रज्ञा निहित है। न केवल सृजनात्मक अन्तर्दृष्टि बल्कि किसी वस्तु की साधारण समझ तक में यह प्रक्रिया विद्यमान रहती है। ८६ इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि 'कोई भी सुस्पष्ट दर्शन अवलोकित तथ्य सामग्री, तर्कपूर्ण चिन्तन और अन्तःप्रज्ञात्मक अन्तर्दृष्टि को ध्यान में रखे। इन सबका व्यवस्थित ढंग से समन्वित करना आवश्यक है। ८७

इस प्रकार यह मानते हुए कि समस्त चिन्तन उसमें निहित समग्रता के बोध के कारण अन्तःप्रज्ञा से विद्ध होता है राधाकृष्णन तर्कना को भी सावधानी से उसका उचित स्थान देते हैं। मानो इस तथ्य पर विशेष बल देते हुए कि उनके लिए तर्कना और अन्तःप्रज्ञा में कोई विरोध नहीं है वे प्रायः 'तर्कनापूर्ण अन्तःप्रज्ञा' शब्दावली का प्रयोग करते हैं। दर्शन में तर्कना का आधारात्मक स्थान स्वीकार करना आवश्यक है। विज्ञान से दर्शन की श्रेष्ठता

होती है और जिसके बीच वह अकस्मात घटित होती है उच्चतर"[१०६] है। बुद्धि से उसका सम्बन्ध वैसा है जसा 'सम्पूर्ण का एक अन से चिंतन के सृजनात्मक स्रोत का संजित कोटि से"[१०७] होता है। तर्क और भाषा 'इस प्रकार के ज्ञान का निम्नतर रूप, लघुतर रूप"[१०८] हैं। कभी कभी राधाकृष्णन यह भी कहते हैं कि अन्त प्रज्ञात्मक ज्ञान 'प्रयासहीन और स्वतस्फूर्त'[१०९] होता है। यह उनको इस पहले उध्दृत राय से विपरीत लग सकता है कि सच्ची अन्त प्रज्ञा गहरी तैयारी की अपेक्षा रखती है और कुछ कठोर पूर्व परिस्थितियों पर निर्भर रहती है। पर यह विरोध ऊपरी ही है। अन्त प्रज्ञा को ज्ञान के प्रभावी साधन के रूप में प्रयोग करने की क्षमता विकसित करने के लिए, उच्चकोटि के बौद्धिक मानसिक और नतिक भी, उपकरण आवश्यक होते हैं। पर इस साधन के प्रयोग की वास्तविक प्रक्रिया में सहजता और सरलता होती है जिनका ज्ञान के अन्य प्रकारों में अभाव है। 'सत की निश्चयात्मकता विचित्र और सरल होती है।"[११०] और जिस प्रकार किसी महाकवि के गहनतम भाव कभी-कभी अपूर्व सादगी भरे शब्दों द्वारा अभिव्यक्त हो जाते हैं ठीक उसी प्रकार कोई कोई दार्शनिक भी कभी कभी गुरुतर आध्यात्मिक उपलब्धियाँ सरल और प्रयासहीन अन्त प्रज्ञा द्वारा घोषित कर पाता है। 'हम आविष्कार अन्त प्रज्ञा द्वारा करते हैं, चाहे उसको प्रमाणित भले ही तर्क द्वारा करें।'[१११] /

७

अन्त प्रज्ञा के सिद्धान्त को ज्ञानमीमांसा का एक आवश्यक मध्यान्तर मानकर, अब हम राधाकृष्णन की आदर्शवादी विश्वदृष्टि की ओर लौटें, और फिर आगे बढ़कर उनकी नीतिशास्त्र विषयक मान्यताओं पर विचार करें। उनके चिंतन का कठोर व्यवस्था प्रेमी विवेचक उनकी तत्त्वमीमांसा से सीधे उनके नीतिशास्त्र तक जाना चाहेगा, क्योंकि हमारे युग में अन्य किसी दार्शनिक ने तत्त्वमीमांसा के ऊपर नीतिशास्त्र की निर्भरता पर इतना प्रबल आग्रह नहीं किया है जितना राधाकृष्णन ने। वे कहते हैं—"किसी भी नतिक सिद्धान्त का आधार तत्त्वमीमांसा में मानव आचरण और चरम सत्ता के बीच सम्बन्ध की दार्शनिक अवधारणा में होना आवश्यक है। चरम सत्ता को हम जसा समझते हैं वसा ही हम आचरण करते हैं। दृष्टि और कर्म साथ साथ चलते हैं।[११२]

तत्त्वमीमांसा के ऊपर नीतिशास्त्र की निर्भरता की व्याख्या राधाकृष्णन मूल्य के आधार पर करते हैं। नतिक आचरण का आधार मूल्य में है ठीक इसी कारण वह सत्ता के स्वरूप के विषय में उदासीन नहीं हो सकता जो समस्त

स्वप्न, ख़याली पुलाव या अटकलबाज़ी है, वह हम आकस्मिक स्थिति को छोड़कर कभी सत्य तक नहीं पहुँचा सकती।"[९८]

किन्तु इन सब प्रतिबंधों को लगाने और चेतावनी देने के बाद, यह सत्य ही है कि राधाकृष्णन के लिए अन्तःप्रज्ञा अन्य उपायों की तुलना में कई दृष्टियों में ज्ञान का श्रेष्ठतर उपाय है। श्रेष्ठतर विधि आवश्यक रूप से एक मात्र विधि नहीं होगी, और ऐसे अवसर हो सकते हैं जब "कुल मिलाकर सब श्रेष्ठ कही जाने वाली विधि सर्वदा उपयुक्त न हो। ज्ञान के ऐसे भी पक्ष हैं जिनमें अन्तःप्रज्ञात्मक विधि जानने की प्रक्रिया के गौण तत्त्व के अतिरिक्त अन्य सभी दृष्टियों से लगभग अनुपयोगी होगी। पर ज्ञान के सर्वोच्च स्तरों पर अन्तःप्रज्ञा में ऐसे लाभ हैं जो इन्द्रियबोध अथवा तर्कना में उपलब्ध नहीं। वास्तव में वह 'इन्द्रियों के परे के क्षेत्रों में इन्द्रिय-बोध के विस्तार'[९९] को सम्भव बनाती है वह उन "सच्चे मूल्यों की चेतना, जो न तो देश-काल में स्थित पदार्थ हैं और न चिंतन के सर्वव्यापी तत्त्व,'[१००] उत्पन्न करती है।

अन्तःप्रज्ञा आत्मनिष्ठ है, घनिष्ठतः वैयक्तिक है। इसको एक सीमा माना जा सकता है पर यह याद रखना चाहिए कि चिंतन की सूक्ष्मता और प्रखरता वैयक्तिकता से जुड़ी हुई है और यदि वैयक्तिकता न रहे तो कुछ नहीं रहता।"[१०१] इस तथ्य के कारण कि अन्तःप्रज्ञा को वैज्ञानिक अर्थ में प्रमाणित नहीं किया जा सकता, और वह असम्प्रेषणीय है उसकी सत्यता नहीं मिटती। गहनतम अन्तर्दृष्टि वाले लोगों ने उसे स्वतःसत्यापक, स्वतःसिद्ध और स्वतःप्रकाशित[१०२] कहा है। अन्तःप्रज्ञा की प्रामाणिकता संदिग्ध होना तो दूर, वह "शुद्ध बोध समस्त सार्थकता सम्पूर्ण सत्यता'[१०३] प्रस्तुत कर सकती है। अन्तःप्रज्ञा अकल्पनीय गति से कार्य कर सकती है सच्ची अन्तःप्रज्ञात्मक अनुभूति में 'सम्पूर्ण मन एक स्पन्दनशील क्षण में आगे छलांग भरता माना जाता है।[१०४] पर यह आपत्ति की जा सकती है कि अन्तःप्रज्ञा की सत्यता का क्या प्रमाण है? राधाकृष्णन का उत्तर है कि उसकी अस्वीकृति असम्भव होना ही उसकी प्रामाणिकता का सबसे बड़ा सबूत है। वे कहते हैं—"अन्तःप्रज्ञात्मक तत्त्व की सत्यता और उसका प्रमाण कुछ-कुछ कान्ट के प्रागनुभव तत्त्वों के प्रमाण की भाँति है। हम उनको अपने चिंतन द्वारा नहीं मिटा सकते। हम उनमें अविश्वास करके बौद्धिक नहीं रह सकते। वे हमारे मन की रचना में ही विद्यमान हैं।'[१०५]

इस असंदिग्ध सत्यता और उसके लाभों को देखते हुए राधाकृष्णन आग्रहपूर्वक कहते हैं कि अन्तःप्रज्ञा उस तर्क प्रक्रिया से जिससे वह उत्पन्न

है यद्यपि उसके बिना वह नहीं प्राप्त हो सकता।"[११७] राधाकृष्णन जन्म मरण के चक्र से मुक्ति के विचार की व्याख्या भी "मात्र नैतिक से आध्यात्मिक धरातल तक उठने' की उत्कण्ठा के रूप में करते हैं और कहते हैं— 'आध्यात्मिक नैतिक का विस्तार मात्र नहीं है। वह सर्वथा नया ही आयाम है जो सनातन वस्तुओं से सम्बद्ध है।'[११८]

इन वक्तव्यों के बावजूद, यह सोचना भूल होगा कि समग्रत राधाकृष्णन के दर्शन में नैतिक प्रयास का महत्त्व कम माना गया है। इसके विपरीत व बार बार आग्रहपूर्वक घोषित करते हैं—'ब्रह्म की एकता के तत्त्वमीमांसीय सत्य से आनुभविक स्तर पर नैतिक अन्तर की प्रामाणिकता किसी प्रकार कम नहीं होती।'[११९] व इस विरोधाभास की ओर संकेत करते हैं कि नैतिक जीवन सम्पूर्णता की प्राप्ति के लिए और इस प्रकार स्वयं नैतिक प्रक्रिया के अतिक्रमण के लिए अपरिहार्य परिस्थिति है।[१२०] जिस प्रकार आनुभविक जगत इस सत्य के कारण निषेधित नहीं होता कि निरपेक्ष ससीम से परे हो जाता है उसी प्रकार ऐतिहासिक प्रक्रिया भी, जो नैतिक आचरण का आधार है, इस सत्य के कारण मिट नहीं जाती कि सर्वोच्च आध्यात्मिक अनुभूति में हम उस प्रक्रिया पर लागू होने वाले सन्दर्भ सूत्रों से ऊपर उठ जाते हैं।[१२१]

एक अर्थ में, नैतिकता सम्पूर्ण वैयक्तिक मुक्ति के बाद भी बनी रहती है। मुक्त आत्मा के लक्ष्य के लिए कोई पदार्थ नहीं रहता क्योंकि उसने सब कुछ प्राप्त कर लिया है पर फिर भी वह संसार के कल्याण के लिए सक्रिय रहता है।[१२२] बुद्ध इसके उदाहरण हैं जिन्होंने प्रबुद्धता के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचने और इच्छा के अंतिम अवशेषों तक को जीत लेने के बाद भी अपनी चरम मुक्ति को रोककर चालीस वर्ष तक नैतिक नियम या चक्र चालू रखा। शंकर तक मुक्त आत्मा के लिए नैतिक कर्त्तव्य की कोई सार्थकता न मानते हुए भी इस मुक्ति में नैतिक गुणों का परित्याग नहीं देखते। 'सम्पूर्णता से नैतिकता की नहीं नीतिपरक व्यक्तिवादिता की मृत्यु होती है।'[१२३]

आनुभविक जगत में अन्तर हमारा धाम वास्तव में इसी जगत् से मानने के कारण ही राधाकृष्णन पाते हैं—नैतिकता का महत्त्व पूरी तरह मानने के कारण ही राधाकृष्णन नैतिकता और धर्म के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध देखते हैं। शुद्ध तत्त्वमीमांसा के धरातल पर नैतिकता के साथ ही धर्म भी पीछे छूट जाता है, क्योंकि निरपेक्ष व्यक्तिगत ईश्वर और ससीम आत्मा दोनों के परे है। पर व्यावहारिक धरातल पर धर्म और नैतिकता दोनों ही यथार्थ हैं और परस्पर सम्बद्ध हैं। प्रगतिशील नैतिक दिशाओं में रही हैं और सर्वोच्च नैतिकता के रूप में धर्म की जड़ें सदा ही

मूल्य का चरम स्रोत है। 'यह प्रश्न अनिवार्य है कि नैतिक आदर्श निरा स्वप्न है अथवा उसे जगत् का समर्थन प्राप्त है। मनुष्य क्या अंधकार में अकेला ही जूझ रहा है अथवा कोई ऐसा सर्वोपरि उद्देश्य भी है जो उसके आदर्शों की खोज में उसके साथ सहयोग कर रहा है उसकी योजनाओं को चरम पराजय से उस बचाने में प्रयत्नशील है ? क्या हमारे मूल्य केवल अनुभवजन्य संयोग मात्र हैं अधिक से अधिक मानव मन की सृष्टि मात्र हैं अथवा वे हमारे सामने एक अस्तित्व का उद्घाटन करते हैं जो मात्र मानवीय से कुछ अधिक है एसी आध्यात्मिक सत्ता का उजागर करते हैं जो कालिक प्रक्रिया में होने वाली घटनाओं की सार्थकता का स्रोत है ?"[११३]

किन्तु यदि नैतिकता तत्वमीमांसा पर निर्भर है और यदि राधाकृष्णन निरपेक्ष आदर्शवाद को सबसे सन्तोषप्रद तत्वमीमांसीय सिद्धान्त मानते हैं तो क्या वे चरम अर्थ में नैतिकता के मूल्य को अस्वीकार करने के लिए नहीं बाध्य होते ? यदि अव्यक्तिक ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है, तो क्या हम नैतिक आचरण के प्रश्नों को मूलभूत सार्थकता प्रदान कर सकते हैं जो अनन्त ससीम जगत् में रहने वाले ससीम प्राणियों से ही सम्बन्धित है ? कभी-कभी लगता है कि राधाकृष्णन निरपेक्षवाद के कठोर तर्क को स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि चरम विश्लेषण में नैतिकता के परे जाना ही होगा। नीतिशास्त्र में जीवन के पार्थक्यवादी दृष्टिकोण की पूर्व कल्पना है। जब हम उससे परे जाते हैं तो नैतिक नियमों के भी परे पहुंच जाते हैं।"[११४] सत और असत् के भेद की जड़ें कार्यशीलता में हैं। किन्तु कार्यशीलता तो 'ऐतिहासिक प्रक्रिया की विशेषता है और सम्पूर्णता ऐतिहासिक नहीं है। उसमें कोई अभाव नहीं और उसमें कोई कार्यशीलता नहीं हो सकती।"[११५]

कभी कभी राधाकृष्णन आध्यात्मिक और नैतिक के बीच अन्तर करते हैं और नैतिक से आध्यात्मिक को श्रेष्ठतर बताते हैं। आध्यात्मिक धरातल नैतिक धरातल से उच्चतर है। जिस प्रकार जड़ पदार्थ से जीवन प्रकट हुआ जीवन से मन प्रकट हुआ, मन से मूल्यबोध प्रकट हुआ वैसे ही मूल्यबोध में से ईश्वर चेतना प्रकट होती है। मोक्ष नैतिक व्यक्तिमत्ता से आध्यात्मिक सर्व व्यापकता तक उठने का ही नाम है। वह काल में अनिश्चित प्रगति में से नित्यता में चरम उपलब्धि तक प्रकट होना है। [११६] इसका अर्थ है कि नैतिकता को आध्यात्मिक सम्पूर्णता की पूर्वावस्था तो माना जा सकता है पर उसके बराबर नहीं माना जा सकता। ज्ञान अथवा माया के आवरण के परे चले जाना, मनुष्य की आध्यात्मिक नियति है। यह नैतिक उत्तमता से कुछ अधिक

है। क्योंकि आखिरकार सच्चा धर्म क्या है? "वह एक आध्यात्मिक निश्चितता है जो हमें शक्ति और सांत्वना प्रदान करती है। वह यह विश्वास है कि प्रेम और न्याय जगत के केन्द्र में हैं। वह यह आस्था है कि किनारे की लहरें भले ही टूट जाएँ पर फिर भी जीतता महासागर ही है।"[131] सभी महान् नीतिकारों ने यही विश्वास प्रकट किए हैं यद्यपि विशेष गुणों के, तथा मानव स्वभाव के विभिन्न पक्षों की आवश्यकताओं के मूल्यांकन में उनके बीच व्यापक मतभेद रहा है।

राधाकृष्णन का अपना सुझाव 'सत जीवन' के उदार और सहिष्णु मूल्यांकन की ओर है। वैराग्य का मार्ग उन्हें कभी प्रिय नहीं रहा। भगवद्गीता की भाँति ही वे आग्रह करते हैं कि "हमें संसार के त्याग की नहीं मन की तटस्थता की आवश्यकता है।"[132] सच्ची तटस्थता "पृथक अहं के साथ अपने आपको एकाकार करने की अस्वीकृति में स्वार्थपूर्ण हितों के यथार्थ लक्ष्यों के परित्याग में है।"[133] अतिशय वैराग्य, जो आत्मपीडन कठोर ब्रह्मचर्य तथा अन्य उग्र आदर्शों में प्रकट होता है जीवन प्रक्रिया के विरुद्ध युद्ध घोषणा के समान है। "हमें मानव जाति के विनाश का खतरा उठाकर आत्मा का बचाव का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।"[134]

रूढ़िवादी नीति संहिताओं का कट्टरतापूर्वक मानने से सद्गुणों में वृद्धि नहीं हो सकती। रूढ़ियों के जड़ हो जाने पर उनके विरुद्ध विद्रोह एक नैतिक आवश्यकता बन जाता है। बुद्ध और सुकरात का उल्लेख करते हुए राधाकृष्णन हमें याद दिलाते हैं कि यद्यपि नैतिकता अनुवर्तिता की माँग करती है, फिर भी सच्ची नैतिक प्रगति प्रायः चरम अननुवर्तियों के काम पर निर्भर रही है।[135] आदर्शों का परीक्षण मानव जाति के वास्तविक अनुभव में करना होता है और उन्हें हर युग में समाज की बदलती हुई आवश्यकताओं का ध्यान में रखकर ही कार्य रूप देना होता है। अनुभव हमें बताता है कि कुछ आदर्शों को व्यावहारिक रूप में कार्यान्वित करने में असाधारण व्यक्तियों को छोड़कर बाकी सबको कुछ न कुछ समझौता करना ही पड़ता है। "हम जहाजों के समान हैं जिनके बन्दरगाह पर पहुँचने की सम्भावना मौसम और हवाओं से थोड़ा सा समझौता करने पर ही अधिक है।"[136] यह सच है कि हम दार्शनिक दृष्टि से उदासीन[137] नहीं हो सकते और यदि मूलभूत नैतिक मूल्य दाँव पर लगे हों तो हम तटस्थ नहीं रह सकते। पर हमारा दृष्टिकोण लचीला होना चाहिए और हमें मनुष्य के कार्यों को बहुत कठोर होकर नहीं जाँचना चाहिए।

नैतिकता सदा मनुष्यों के मन को जगत में परिव्याप्त ईश्वरत्व की ओर प्रेरित करती रही है। 'यदि नैतिक चिन्तन गहन हो तो वह नैतिकता को विश्व-व्यापी उद्देश्य प्रदान करेगा। नैतिक चेतना में आदर्शों की सत्यता में विश्वास होना आवश्यक है। यदि आदर्शों की सत्यता धर्म है, तो नैतिक मानववाद छद्मरूप धर्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं।'[१२४]

राधाकृष्णन के नीतिशास्त्र पर टिप्पणी करते हुए जोड लिखते हैं—"नैतिक प्रश्नों पर अपने प्रत्येक कथन में वे नीतिशास्त्र और धर्म के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध को मानकर ही चलते हैं—वास्तव में उसकी मूलभूत मान्यता के रूप में जगत के आध्यात्मिक विचार को, मनुष्य के आध्यात्मिक स्वरूप को और मनुष्य के भीतर अवस्थित ईश्वर की अवधारणा को मानकर चलते हैं।"[१२५] जगत के सर्मान्वत रूप में राधाकृष्णन की आस्था जिसका पहले ही उल्लेख हो चुका है, नैतिकता और धर्म की मूलभूत एकता पर उनके आग्रह में प्रतिबिम्बित होती है। जीवन एक है और उसमें धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष के बीच कोई भेद नहीं। धर्म, अर्थ और काम साथ-साथ ही चलते हैं। दैनिक जीवन के साधारण काम धन्धे सच्चे अर्थ में परमेश्वर की सेवा ही हैं।"[१२६] सभी उच्चतर धर्मों में "अनुभवातीत में विश्वास और प्राकृतिक में काम दोनों ही घनिष्ठता और पारस्परिक प्रभावपूर्वक एक साथ बढ़े हैं।'[१२७]

राधाकृष्णन विश्वास करते हैं कि अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में हिन्दू धर्म में नैतिकता और धर्म के बीच इस 'घनिष्ठता और पारस्परिक प्रभाव' का सूक्ष्म बोध प्रकट होता है। धर्म शब्द नैतिक सचाई और धार्मिक सम्पूर्णता दोनों का सूचक है। धर्म मूलत धर्म और नैतिकता का समन्वय है।[१२८] हिन्दू चिन्तन में धर्म उस सद्गुण के अतिरिक्त और कुछ नहीं जो 'वस्तुओं के सत्य के अनुरूप होने में निहित है। नैतिक बुराई उस सत्य के साथ सामञ्जस्यहीनता है जो संसार को घेरे हुए है और नियन्त्रित करता है।'[१२९] सद्गुण और धार्मिक मूल्य की यह व्यापक व्याख्या धर्म की अवधारणा को कट्टरता से बचाती है। यद्यपि धर्म निरपेक्ष है किन्तु उसमें कोई निरपेक्ष और कालहीन सार नहीं। नैतिकता का एकमात्र शाश्वत तत्त्व है मनुष्य की श्रेष्ठतर की आकांक्षा।'[१३०]

नीतिशास्त्र के विशिष्ट प्रश्नों पर राधाकृष्णन का मतामत उनकी मूलभूत आदर्शवादी विश्वदृष्टि से और उनके इस विश्वास से कि 'सच्चे धर्म' और सच्ची नैतिकता' में कोई अन्तर नहीं, स्वाभाविक रूप में निकल आता

तो अभी बनना ही बाकी है। "हम यह नही मान सकते कि हर चीज शुरू होने के पहले ही खत्म हो चुकी है और अन्तिम दिन वही निर्णय पढा जाएगा जो पहले ही दिन लिख दिया गया था।"[१४१] साथ ही वे कर्म की परपरा गत अवधारणा को भी स्वीकार करते हैं और स्वाधीनता के विचार और कर्म सिद्धान्त के बीच कोई मूलभूत विरोध नही देखते। व कहते है कि 'कर्म की व्याख्या म उस कानून का ही एक व्यापक पर्याय मानना चाहिए, और कानून को केवल अराजकतावादी ही अस्वीकार करते हैं स्वाधीनतावादी नहीं। इस अर्थ म कर्म ि प अर्थव्यवस्था का एक नाम मात्र है। यह एक परिस्थिति है नियति नही।[१४२]

राधाकृष्णन स्वतन्त्र इच्छा शक्ति के विषय म अपन विचार को एक बडे व्यजनापूर्ण रूपक द्वारा समझाते हैं। जीवन ब्रिज के खल की भाँति है। खेल के ताश हम कोई दूसरा देता है उन्हें हम स्वय नही चुनत। वे पिछले कर्म के अनुसार हैं पर हम मनचाहे हाथ बोलने को और ताश चलन को स्वतन्त्र है। हमारे ऊपर केवल खेल के नियमा का ही ब धन है। हम खेल शुरू होते समय जितने अधिक स्वतन्त्र होते हैं उतने बाद को नही रहते जब खेल आगे चलने स हमारा चुनाव सीमित होता जाता है। पर कुछ न कुछ चुनाव की सम्भावना अन्त तक बनी रहती है। अच्छा खिलाडी उन सम्भावनाओ को देखता है जिन्हें कच्चा खिलाडी नहीं देख पाता। खिलाडी जितना अधिक चतुर होता है उतनी ही अधिक सम्भावनाएँ उसे दीखती हैं। अच्छे ताश भी निपुणताहीन खेल के कारण चौपट हो सकते हैं, और खेल क बुरे होने का कारण केवल भाग्य का कोप होना आवश्यक नही। भले ही हम ताशा के फेंकने के ढग को न पसन्द करें पर खेल हमें अच्छा लगता है और हम खेलना चाहते हैं।[१४३]

८

राधाकृष्णन द्वारा पाश्चात्य और पौर्वात्य चिन्तन के तुलनात्मक अध्ययन की ओर एन आइडियलिस्ट व्यू आफ लाइफ के प्रकाशन के बाद से बहुत ध्यान गया। एक समय इस क्षेत्र मे उनके कार्य का बहुत स पाठक विशेषकर भारत म गलत धारणा स प्रशसा किया करते थे। व उन्हे हिन्दू सस्थाओ का समर्थन समझते थे उन्हे ऐसा विद्वान समझते थे जिसने यह सिद्ध कर दिखाया" है कि भारतीय दर्शन म वह सब कुछ तथा और भी बहुत पहले ही मौजूद है जो पश्चिम की देन समझा जाता है, जिसने दिखा दिया है कि शाकर वेदान्त में सभी सत्य अपने चरम और शाश्वत रूप म मौजूद हैं। पर राधाकृष्णन का दर्शन और धर्म म तुलनात्मक पद्धति का चमत्कारिक प्रयोग ऐसे किसी उद्देश्य

गाधी से गहरे प्रभावित होने के कारण राधाकृष्णन अहिंसा को— जो प्रेम का ही एक पक्ष है—नैतिक जीवन की सबसे व्यापक और सार्वभौमिक कसौटी मानते हैं। जब तक हमारी दृष्टि प्रेम से सिक्त नहीं होती तब तक सत्य और असत्य अमूर्त धारणाएँ मात्र हैं। अफलातून और स्पिनोजा की भाँति वे भी आग्रह करते हैं कि हम तब तक सत नहीं हो सकते जब तक हम 'उत्तमता से प्रेम'[138] नहीं करने लगते। क्षमा, त्याग, सहिष्णुता शांति प्रियता, धैर्य आदि सभी एक ही प्रेम-तत्त्व के विभिन्न रूप मात्र हैं। किंतु गाधी से भिन्न, राधाकृष्णन यह मानते हैं कि इस तत्त्व का जीवन की शोभा और सौष्ठव से सामंजस्य होना चाहिए। वे तपस्या का सौंदर्य देखते तो हैं पर उसको उतना गौरव नहीं देते जितना गाधी देते हैं। मुसस्कारिता, सुख, निष्ठुता, सन्तुलन का प्रेम और सच्चाई के साथ समन्वय होना आवश्यक है।[136] जीवन को अधिक भव्य बनाने की प्रक्रिया में वे सब प्रयास भी शामिल होने चाहिए जिनका लक्ष्य उसे अधिक समृद्ध, अधिक सम्पूर्ण, अधिक आनन्दपूर्ण और निश्चिन्त अधिक शान्तिपूर्ण और गरिमासम्पन्न बनाना है। भौतिक सुविधाओं का उपहास करना आवश्यक नहीं और सभ्यता के फलों को जिनमें विज्ञान और औद्योगिकी द्वारा प्रस्तुत फल भी शामिल हैं आभार पूर्वक स्वीकार करना चाहिए।

सर्वोपरि, सत जीवन स्वतन्त्रता का जीवन है। जहाँ व्यक्ति का अपने कार्यों पर कोई अधिकार न हो वहाँ भले बुरे का कोई प्रश्न नहीं उठता। किसी को जबरदस्ती नैतिक नहीं बनाया जा सकता। पिछले दिनों राधाकृष्णन कई—शिक्षा सम्बन्धी, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक—सदर्भों में स्वतन्त्रता की परम आवश्यकता की बात उठाते रहे हैं।[14] उनके सामाजिक और राजनीतिक दर्शन में दमन और विचार नियन्त्रण के लिए कोई स्थान नहीं वह अत्याचार चाहे किसी राष्ट्र का हो किसी जाति का हो, किसी वर्ग या वर्ण का हो, किसी विचारधारा या धर्म का हो। आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता से उनको जो भी शिकायतें हों वे लोकतन्त्र समानता, राष्ट्रवाद और सार्वभौतिक स्वायत्तता या स्वतन्त्रता के हित में, और अन्ततः नैतिक प्रगति के हित में यूरोप का महान् योगदान मानते हैं।

किंतु स्वतन्त्र इच्छा शक्ति के सामान्य दार्शनिक प्रश्न पर राधाकृष्णन की स्थिति कुछ अधिक सावधानी की है। वे इच्छा शक्ति की स्वतन्त्रता को नैतिकता और धर्म दोनों का आधार तत्त्व मानते हैं। अब निर्वैयक्तिक बाध्यता के आधार पर आदर्शों और मूल्यों की दुनिया नहीं बनाई जा सकती। भविष्य

गतिशीलता का प्रमाण है। 'अपने महान युग में हिंदू सभ्यता ने समुद्रों को पार करके उपनिवेशों को बसाकर, संसार को सिखाकर और उससे सीखकर भी अपनी जीवंत सक्रियता का परिचय दिया था।'[१४८]

पर इन सब बातों से इस सचाई में अन्तर नहीं पड़ता कि भारतीय चिंतन अपने पिछले स्तर से गिर चुका है और रूढ़ि तथा विचार संकीर्णता ने हमारे विचारों के साथ मनमानी की है। "हिन्दू धर्म अब कितना कम जीवंत है। जहां कभी जीवन की धारा उमड़ती थी वहां अब जड़ता का राज है। हम भटक रहे हैं, प्राणवानता का अभाव है आध्यात्मिक व साहसहीनता है।'[१४९] हमारे मन अब वैसे साहसिक नहीं रहे हम नए विचारों के सम्पर्क से कतराते हैं। 'लगता है जैसे हम अपने आपसे डरते हैं और आत्मरक्षा के लिए अपने धर्म के खोल से चिपके रहते हैं। जिस आवरण में हम जीवन को बचा रखना चाहते हैं, वह उसके विस्तार को रोकता है।'[१५०] चिंतन की यह प्रभावहीनता सामाजिक विधान में भी प्रतिबिम्बित है। जाति व्यवस्था "पतित होकर पीड़न और असहिष्णुता के साधन का रूप ले चुकी है।"[१५१] वह असमानता को बनाए रखता है और पारस्परिक बहिष्कार की प्रवृत्ति को बढ़ावा देती है।

इसलिए भारत को अपनी उपलब्धियों के प्रति अधिक संतुलित और आलोचनात्मक रवैया अपनाना चाहिए। प्राचीन लोग अपनी विशेष दुनिया में रहते थे। हम उस दुनिया को समझना चाहिए—कृपा के भाव से नहीं, पर विचारहीन प्रशंसा के भाव से भी नहीं। राधाकृष्णन व्यंग्य के साथ कहते हैं—अपने आध्यात्मिक पूर्वजों का हमारे ऊपर ऋण यह है कि कम से कम हम उनका अध्ययन तो करें। [१५२] कितनी ही बार हम 'परम्पराओं की निरंतरता' के नाम पर अस्वीकृति और श्रद्धा के नाम पर अटलता की मान्यता देते हैं। किसी पूर्ववर्ती युग के धर्मशास्त्र हमारे युग की समस्याओं का समाधान नहीं कर सकते। भारतीय संस्कृति के महान प्रतिनिधि गतिशील और साहसिक व्यक्ति थे। यदि इस निरन्तर गतिशील दुनिया में हम एक ही स्थान पर प्रतीक्षा करते हुए चुपचाप बैठे और प्राचीन ऋचाएँ ही गाते रहें, तो हम उन लोगों की भावना के प्रति वफादार नहीं हो सकते। हम सूरज को हिंदुस्तान के मैदानों में खड़े रहने का आदेश नहीं दे सकते।"[१५३]

इसके बावजूद राधाकृष्णन मानते हैं कि पूर्व के, विशेषकर भारत के, पास देने को बहुत कुछ है। 'आज भारतीय मनीषा न केवल भारतीय राष्ट्र के पुनर्जीवन के लिए, बल्कि सम्पूर्ण मानव जाति की पुनर्दिशा के लिए आवश्यक

से प्रेरित न था। शीघ्र ही यह पहचान लिया गया कि उनका उद्देश्य प्रत्येक परम्परा के सबल तत्वों को उजागर करना था जिससे उनके बीच परस्पर समन्वय हो सके, उनका कार्य पूर्व और पश्चिम के बीच एक 'सम्पर्क अधिकारी'[144] का है, एक 'दार्शनिक दुभाषिये'[145] का और भाषान्तरकार का है जिसके प्रयत्नों से प्रत्येक गोलार्ध दूसरे की भाषा समझ सके, ऐसे पुल निर्माता का है जो दो राज्यों के बीच बौद्धिक वाणिज्य को आसान बना दे।

भारतीय और पाश्चात्य चिन्तन के उनके विवेचन पर अलग से विचार करना सुविधाजनक होगा। जब राधाकृष्णन ने भारतीय दर्शन पर लिखना शुरू किया, उस समय भारतीय विद्वानों में दो अतिवादी प्रवृत्तियाँ प्रचलित थीं। कुछ लोग तो वे थे जो एक 'सांस्कृतिक हीनता ग्रंथि' से पीड़ित थे और अपनी दार्शनिक परम्परा की समृद्धि देखने में असमर्थ थे। इसके विपरीत कुछ पुनरुत्थानवादी थे जो प्राचीन भारत की विवेकशून्य प्रशंसा करते थे और धर्म के प्रति नकारात्मक रवैया अपनाते थे। राधाकृष्णन का उद्देश्य इन दोनों को सुधारना था।

उनका भारतीय चिन्तन का समर्थन उत्कट प्रतीतिकारी और सुप्रमाणित था। वे भारतीय चिन्तन की सहिष्णुतापूर्ण और आत्मसम्मानकारी भावना की प्रशंसा करते हैं। "हिन्दू धर्म ने किसी अटल मत में कट्टर आस्था के बजाय व्यापक उदारता का स्थान विकसित किया। बहुत से मत मतान्तर को मानने वाले अनेक सम्प्रदाय हिन्दू धर्म के अन्तर्गत हैं। हिन्दू धर्म कुछ अन्य धर्मों की इस विचित्र मनोग्रन्थि से पूर्णतः मुक्त है कि मुक्ति के लिए किसी विशेष धार्मिक तत्वमीमांसा की स्वीकृति आवश्यक है और उसको स्वीकार न करना जघन्य पाप है।'[146] वे कहते हैं कि हिन्दू धर्म द्वारा बौद्ध, इस्लाम और ईसाई धर्म के सर्वश्रेष्ठ तत्वों का आत्मसात् करने की क्षमता उसकी निहित शक्ति को सूचित करती है।

राधाकृष्णन दर्शाते हैं कि कुछ पाश्चात्य लेखकों का यह विचार कितना सतही है कि भारतीय चिन्तन अपने स्वभाव से ही स्थिर आत्मसन्तुष्ट और रूढ़िवादी है। वे कहते हैं कि धर्म और दर्शन दोनों में भारतीय परम्परा सदा ही बुनियादी मूल्यों की निरन्तरता बनाए रखने के साथ-साथ परिवर्तन और अनुयोजन के लिए पर्याप्त अवकाश छोड़ने की रही है। "परम्परा, तर्क और जीवन के माध्यम से धार्मिक प्रगति की द्वन्द्वात्मकता परिवर्तन को गुंजाइश रखकर हिन्दू धर्म की रक्षा में सहायक होती है।"[147] भारतीय दर्शन का सुदूर-पूर्व और पश्चिम दोनों में ही दूरव्यापी प्रभाव उसकी मान्यता और

विश्लेषणात्मक बुद्धि का अत्यधिक सहारा लेने लगा है। इस रुझान को संश्लेषणात्मक अखण्डतामूलक रुझान से सम्पुष्ट किया जाना चाहिए और इसके लिए तर्कना का अन्तःप्रज्ञा के साथ सहयोगपूर्वक कार्य करना चाहिए।[१२७]

इन दोनों बातों में भारतीय चिंतन उस संतुलन को फिर से स्थापित करने में सहायक हो सकता है जो यूरोपीय मानस खो चुका लगता है। राधाकृष्णन यह दावा नहीं करते कि आदर्शवाद या अन्तःप्रज्ञावाद पर भारत का एकान्त अधिकार है। पर वे अनुभव करते हैं कि कुल मिलाकर तर्कनावादी और उपयोगितावादी प्रवृत्तियाँ पश्चिम में अधिक पूर्णता से विकसित हुई हैं जबकि भारत में अखण्डतामूलक और आध्यात्मिक रुझान ही सदा प्रधान रहा है। प्रत्येक परम्परा दूसरी से कुछ न कुछ सीख सकती है। यह परस्पर सीखने की प्रक्रिया अनजाने ही सदा चलती रही है। रचनात्मक दर्शन का कर्तव्य आज यही है कि इस प्रक्रिया को एक नई मानव व्यवस्था की ओर उन्मुख और पुष्ट करने के लिए अधिक सचेत प्रयत्न करे।

ऐसा प्रयत्न पहले ही हो रहा है। "विचारों और अन्तर्दृष्टियों के पारस्परिक उर्वरीकरण द्वारा जिसके पीछे शताब्दियों की जातीय और सांस्कृतिक परम्पराएँ हैं मनुष्यों के विचारों के गहरे तानेबाने में महान एकीकरण घटित हो रहा है। दूसरों के दृष्टिकोण का आदर, दूसरी संस्कृतियों की निधियों की प्रशंसा, एक दूसरे के निःस्वार्थ उद्देश्यों में विश्वास में वृद्धि हो रही है।[१२८] पिछली दो शताब्दियों में पूर्व ने पश्चिम से बहुत कुछ सीखा है। अब पश्चिम भी 'अपनी चेतना में विचारों, आकृतियों और कल्पनाओं के सम्पूर्ण नए संसार के आकस्मिक प्रवेश के कारण एक पुनर्जागरण से गुजर रहा है। जैसे पन्द्रहवीं शताब्दी में उसकी चेतना यूनान और रोम की प्राचीन संस्कृति के उद्घाटन से विस्तृत हुई थी, उसी तरह आज एशिया की, जिससे भारत भी जुड़ा है नई विरासत के द्वारा आत्मा में आकस्मिक विस्तार हो रहा है।[१२९]

मनुष्य की यांत्रिक प्रवीणता के द्वारा दुनिया के विभिन्न भाग पहले ही पास आ चुके हैं। इस एकता को आध्यात्मिक आधार देना है। हमारी पीढ़ी का परम कर्तव्य है बढ़ती हुई विश्व चेतना को एक आत्मा प्रदान करना, *विश्वात्मा की इस सृजनात्मक अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक आदर्श और संस्थाएं* विकसित करना।'[१३०] यह कर्तव्य जितना कठिन जान पड़ता है उतना है नहीं। हम आधुनिक संसार के संघर्षों और विषमताओं से भविष्य में अपनी आस्था को विचलित न होने देना चाहिए। "हमारे युग की प्रमुख

है।[१५४] यह बात बहुत आग्रहपूर्ण लग सकती है, पर पाश्चात्य सभ्यता को जिस गहर संकट ने घेर लिया है उसके सदर्भ में यह उचित ही है। शताब्दियो तक मानवता का नतृत्व करने के बाद आज यूरोपीय चिन्तन दुविधा म पडा लगता है। पश्चात्ताप की भावना व्यापक है और पश्चिम के बहुत-से महापुरुषो द्वारा अभिव्यक्त हुई है।[१५५] विज्ञान द्वारा दिलाई गई आशाएँ बार बार टूटती रही हैं। कला, साहित्य और दर्शन के प्रेरणा-स्रोत सूखते जान पडते हैं। सृजन का स्थान अति विशेषीकरण ने ले लिया है। ससार को यूरोप के सर्वश्रेष्ठ उपहार, लोकतन्त्र और अन्तर्राष्ट्रीयता का त्याग किया जा रहा है। यद्यपि यह धारणा अर्थहीन होगी कि 'सन्देश' के लिए भारत की ओर मुडते ही पश्चिम का रोग दूर हो जाएगा फिर भी यह मानना पडेगा कि कई दृष्टियों से हजारा वर्षों म पूर्व में पुष्ट होने वाली परम्पराओ म उनका कुछ निदान शायद मिल सके।

विज्ञान और औद्योगिकी के क्षेत्र म यूरोप की उपलब्धियो को राधाकृष्णन पूरी मान्यता देते हैं। विज्ञान ने सार्वभौमिकता की भावना का पोषण किया है, मानव-मन को बहुत से अधविश्वासों से और मानव-शरीर को बहुत सी अक्षमता और सकटों से मुक्त किया है। उसने अपने ढग से विश्व की एकता पर बल दिया है और दर्शन और धर्म के कार्य का सहारा लिया है। उसने मानव जाति की सर्वांगीण प्रगति के लिए परिवेश के कुशलतापूर्वक उपयोग के असख्य उपाय सुझाए हैं। पर इन सबके साथ ही उसके कारण जीवन के प्रति यान्त्रिकतापरक दृष्टिकोण भी बढा है, और राधाकृष्णन इस दृष्टिकोण म ही पश्चिम के सकट की जडें देखते हैं।

यान्त्रिकतापरक दृष्टिकोण दो प्रकार म होता है। सबसे पहले तो उसके कारण सबसे बाह्य और अस्थायी मूल्य की वस्तुओ में अत्यधिक उत्साह होने लगता है। उपयोगिता मानदण्ड बन जाती है और विशेषज्ञता को सफलता मान लिया जाता है। सुस्पष्ट मानव मूल्य पीछे धकेल दिए जाते हैं। 'हम आकाश म पक्षियो की तरह उडना और महासागर म मछली की तरह तैरना तो सीखते हैं पर धरती पर मनुष्यो की भाँति चलना भूलते जा रहे हैं।[१५६] मनुष्यों का 'पदार्थ' बना दिया गया है और वे अपने आध्यात्मिक आधार से कट गए हैं। वे 'आत्मा की दुनिया के प्रवासी' या 'विस्थापित व्यक्ति' बनते जा रहे हैं। दूसरे यान्त्रिकतापरक दृष्टिकोण के फलस्वरूप समस्याओं के प्रति विश्लेषणात्मक रुझान का महत्त्व बढा चढाकर आँका जाने लगा है। राधाकृष्णन को शिकायत है कि जब से देकार्त ने अपना सूत्र स्थापित किया तब से यूरोपीय चिन्तन

१५ १९३२ मे प्रकाशित।
१६ १९३३ मे प्रकाशित।
१७ हिब्बर्ट जनरल। अक्तूबर १९३२।
१८ एन आइडियलिस्ट व्यू आफ लाइफ, पृ० १५।
१९ ब्रिटिश एकेडेमी मे दिया गया भाषण, २९ जून, १९३८।
२० ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, १९५०।
२१ श्रीलंका म प्रकाशित, १९३३।
२२ १९३९ मे प्रकाशित।
२३ १९४९ म प्रकाशित।
२४ पूना मे प्रकाशित १९४४।
२५ मद्रास मे प्रकाशित, १९३६।
२६ बम्बई म प्रकाशित, १९४५।
२७ मद्रास विश्वविद्यालय मे दिय गए भाषण, १९३१।
२८ १९३३ म प्रकाशित।
२९ आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय, १९३९।
३० १९४७ म प्रकाशित।
३१ ट्यूडर म प्रारंभिक जीवनीपरक निबंध।
३२ माइ सच फार ट्रूथ, पृ० १५२।
३३ यह सी० ई० एम० जोड द्वारा प्रयुक्त वाक्यांश है।
३४ जोड काउंटर अटक फ्राम द ईस्ट, पृ० १६।
३५ राधाकृष्णन का आग्रह है कि दर्शन की असफलताओ पर भी उतनी ही सावधानी से विचार होना चाहिए जितना उसकी सफलताओ पर।
३६ अथवा, जैसा उन्होंने एक बार क्षोभ म कहा था क्या अतत दर्शन असत्य के पीछे दौडने के सिवाय और कुछ नहीं रहा है ?
३७ राधाकृष्णन ने अपने कई दीक्षात भाषणो म इस बात पर बल दिया है।
३८ अपने फ्रेगमेंट आफ ए कन्फेशन म राधाकृष्णन बार बार इस बात पर जोर देते हैं कि दार्शनिक चिंतन का सदर्भ वास्तविक जीवन है। (देखिए, ट्यूडर, पृ० १२७)।
३९ राधाकृष्णन 'विज्ञान के लोकतत्रकारी काम' की चर्चा बडे उत्साह से करते हैं।

विभीषिकाएँ उस क्षुब्ध करने वाले युद्ध और तानाशाहियाँ इतनी नहीं, जितना विभिन्न संस्कृतियों का एक दूसरे पर प्रभाव, उनका घात प्रतिघात और आत्मा के सत्य और मानव जाति की एकता पर आधारित एक नई सभ्यता का उदय है।"[१६१] पूर्व की सहायता से मशीन की चुनौती स्वीकार करना भी पश्चिम के लिए उसी प्रकार सम्भव होगा जैसे कभी उसने अपनी ताकत के भरोसे प्रकृति की प्रतिकूलता का सामना किया था। "तो फिर क्या ऐसे दर्शन के लिए प्रयत्नशील होना उचित न होगा जिसमें यूरोपीय मानववाद और एशियायी धर्म के सर्वश्रेष्ठ तत्वों का मिश्रण हो, ऐसा दर्शन जो दोनों ही से अधिक गहरा और अधिक जीवन्त हो?"[१६२]

इस समग्रीकरण की प्रक्रिया में धर्म दर्शन का साथ दे सकता है। राधाकृष्णन धर्म को खोखली शक्ति नहीं मानते। किन्तु जीवन्त और गतिशील बने रहने के लिए उसे अपनी रूढ़िवादिता को त्यागना होगा। हमारे ऐतिहासिक धर्मों को अपने भीतर मूलभूत परिवर्तन करके एक सर्वव्यापी आस्था का रूप लेना होगा। 'यह सम्भावना कुछ लोगों को भले ही भयभीत करे पर इसका अपना ही सत्य और सौन्दर्य है।[१६३] संस्थागत धर्म अतीत में मतान्धता और हिंसा तक के सहयोगी रहे हैं। "मानवता के विभिन्न मतमतान्तर न केवल शताब्दियों की प्रेरणा के वाहक हैं बल्कि शताब्दियों की धूल की जमी हुई पपड़ी के भी वाहक हैं।[१६४]

यह राधाकृष्णन के तर्कनावाद का बड़ा गौरव है कि अपनी गहरी धार्मिक दृष्टि के बावजूद हिन्दू धर्म की मुख्य मान्यताओं से लगाव और ईश्वर में दृढ़ आस्था के बावजूद वे इतिहास में उजागर धर्म के अँधेरे पक्षों की कठोर से कठोर शब्दों में निन्दा करने में नहीं झिझके हैं और उनकी आलोचना केवल असंस्कृत आदिम सम्प्रदायों तक ही सीमित नहीं है। जटिल पौराणिकता और उसके काव्यात्मक आकर्षण वाले अधिक कृत्रिमतापूर्ण धर्म प्रकृति पूजा और सर्वात्मवाद से अधिक खतरनाक हो सकते हैं। प्रत्येक संगठित धर्म की 'अपनी आशाएँ और धर्मयुद्ध, मूर्तिपूजा और विधर्मीदलन[१६५] हैं। पूजा जितनी ही उत्कट होती है, नामों का अत्याचार उतना ही बड़ा जान पड़ता है। कभी कभी राधाकृष्णन विभिन्न धर्मों की एक दूसरे के प्रति अभिव्यक्त असहिष्णुता से हतबुद्धि होते जान पड़ते हैं। वे कहते हैं—' लगता है धर्मनिष्ठा नैतिक विवेकशीलता और सर्वजनशील मानववाद को नष्ट कर देगी। धर्म का विरोधी अन्य धर्मों से बड़ा दूसरा नहीं यदि सारे धर्म हटा दिए जाएँ तो यह दुनिया कहीं अधिक धार्मिक स्थान बन जाए।'[१६६]

पर फिर भी धर्म—विशेष धर्मों से भिन्न—एकता की प्रबल शक्ति हो सकता है। "जब हम सिद्धांतों पर बहस करते हैं तो हम विभाजित हो जाते हैं। पर जब हम चिंतनपूर्ण धार्मिक जीवन को अंगीकार करते हैं तो परस्पर समीप आ जाते हैं, अहंकार की कठोरता पिघल जाती है, मतों का प्रयोगात्मक रूप प्रकट हो जाता है और सभी आत्माओं का एक संपूर्ण आत्मा में तीव्र सके द्रण समझ में आने लगता है।"[१६७] सौभाग्यवश विशिष्ट धर्मों के अनुयायियों में प्रत्येक युग में ऐसे प्रबुद्ध व्यक्ति होते रहे हैं जो अपने मत के परे देख सके हैं और यह समझ सके है कि सच्चा धर्म सर्वव्यापी होना चाहिए। इसके अतिरिक्त, अपने संघर्षों और अंधविश्वासों के बावजूद संगठित धर्मों में भी बहुत कुछ ऐसा है जो सकारात्मक और स्थायी है। प्रत्येक ने मानव संस्कृति की प्रगति में कुछ न कुछ योग अवश्य दिया है।

मनुष्य की आत्मा ने नाश और मूर्खता के समस्त संचय से श्रेष्ठतर होने की अपूर्व क्षमता दिखाई है। महान धर्मों के स्वप्न अब भी एक दूसरे का आलिंगन करके फलप्रद बना सकते हैं। 'वे अब भी मानव जाति को ऐसी बहुमुखी सम्पूर्णता की ओर ले जा सकते हैं जिसमें हिंदू धर्म की आध्यात्मिक ज्योति, यहूदी धर्म की आस्था और आज्ञाकारिता, यूनानी देवतार्चन की सुंदरता, बौद्ध धर्म की भव्य करुणा, ईसाई धर्म की दिव्य प्रीति और इस्लाम की त्याग भावना सम्मिलित हो।'[१६८]

प्रत्येक धर्म और प्रत्येक विचारधारा के सर्वोत्तम अंश के केवल ऐसे समग्रीकरण द्वारा ही उन आदर्शों और मूल्यों की रक्षा हो सकती है जो मनुष्य में ईश्वर की ज्योति को प्रकट करते हैं। राधाकृष्णन पूर्व और पश्चिम दोनों से सच्चे हृदय से यह याद रखने का आग्रह करते हैं कि पहले की अपेक्षा आज कहीं अधिक धर्म और दर्शन दोनों का सामान्य दायित्व उन मूल्यों की रक्षा है जो मानव जाति को एक ही सभ्यता में संयुक्त करने की आशा दिलाते हैं। "हम अपनी सभ्यता की मूलभूत अवधारणाओं को नये जीवन के निर्माण मार्गदर्शन और परीक्षण में लगाना चाहिए। आत्मा के मूल्यों को हमें मनुष्य के क्षितिज के परे चले जाने से रोकना चाहिए। इस अधिकतम अमानवीय युग में हम मानवीय होने का प्रयास करना चाहिए।"[१६९]

सदर्भ

१ इस आयोग द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट आधुनिक भारत में शिक्षा-सम्बन्धी चिंतन की दृष्टि से एक मूल्यवान दस्तावेज है।

२ यह अध्याय राधाकृष्णन के भारत के राष्ट्रपति होने और साहित्य अकादेमी उपाध्यक्ष पद का त्याग करने से पहले लिखा गया था। अब वे साहित्य अकादेमी के भी अध्यक्ष हैं।

३ वर्जिलियस फर्म द्वारा सपादित।

४ पाल आर्थर शिल्प द्वारा सपादित, १९५२ में ट्यूडर पब्लिशिंग कम्पनी द्वारा प्रकाशित। (बाद के सदर्भ निर्देशों में शिल्प द्वारा सपादित राधाकृष्णन के लिए इस ग्रंथ के लिए केवल 'ट्यूडर' शब्द का ही प्रयोग किया जाएगा)।

५ फ्रेगमेंट आफ ए कन्फेशन (ट्यूडर पृ० ५)।

६ वही।

७ उसी सदर्भ में वे लिखते हैं— मैं ऐसे वातावरण में बड़ा हुआ जहाँ अदृश्य सत्ता जीवन्त सत्य थी।'

८ द रिलीजन ऑफ द स्पिरिट।

९ द रिलीजन आफ द स्पिरिट में उद्धृत (देखिए, ट्यूडर, पृ० ६)।

१० वही पृ० ७।

११ यह उल्लेखनीय है कि यह ग्रंथ टैगोर के बलाका, वनवाणी तथा परिशेष आदि सग्रहों की कविताएँ लिखने के बहुत पहले ही प्रकाशित हो चुका था। इसके अतिरिक्त राधाकृष्णन ने मूल बँगला रचनाओं का प्रत्यक्ष उपयोग नहीं किया था। इन असुविधाओं के बावजूद उनकी टैगोर की व्याख्या बहुत विश्वसनीय है।

१२ द फिलासफी ऑफ रवीन्द्रनाथ टगोर, पृ० १७७।

१३ इस पुस्तक में राधाकृष्णन मनुष्य की दुर्बलताओं और अपूर्णताओं पर बल देने के लिए धर्म की भी आलोचना करते हैं।

१४ खण्ड १, १९२३ में प्रकाशित, खण्ड २, १९२७ में।

१५ १९३२ में प्रकाशित।
१६ १९३३ में प्रकाशित।
१७ हिब्बर्ट जनरल। अक्तूबर १९३२।
१८ एन आइडियलिस्ट व्यू आफ लाइफ, पृ० १९।
१९ ब्रिटिश एकेडेमी म दिया गया भाषण, २९ जून, १९३८।
२० ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, १९४०।
२१ शोल्का म प्रकाशित, १९०३।
२२ १९३९ म प्रकाशित।
२३ १९४९ म प्रकाशित।
२४ पूना मे प्रकाशित, १९४४।
२५ मद्रास म प्रकाशित, १९३६।
२६ बम्बई म प्रकाशित, १९४५।
२७ मद्रास विश्वविद्यालय म दिए गए भाषण, १९३१।
२८ १९३३ म प्रकाशित।
२९ ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय, १९३९।
३० १९४७ म प्रकाशित।
३१ ट्यूडर म प्रारम्भिक जीवनीपरक निबन्ध।
३२ माइ सच फार ट्रुथ पृ० १/२।
३३ यह सी० ई० एम० जोड द्वारा प्रयुक्त वाक्यांश है।
३४ जोड काउटर अटैक फ्राम द ईस्ट, पृ० १६।

३५ राधाकृष्णन का आग्रह है कि दर्शन की असफलताओं पर भी उतनी ही सावधानी से विचार होना चाहिए जितना उसकी सफलताओं पर।

३६ अथवा जैसा उन्होंने एक बार क्षोभ म कहा था 'क्या अतत दर्शन भ्रम के पीछे दौड़ने के सिवाय और कुछ नहीं रहा है ?"

३७ राधाकृष्णन ने अपने कई दीक्षान्त भाषणों में इस बात पर बल दिया है।

३८ अपने फंडामेंट आफ एजुकेशन म राधाकृष्णन बार बार इस बात पर जोर देते हैं कि दार्शनिक चिंतन का संदर्भ वास्तविक जीवन है। (देखिए, ट्यूडर, पृ० १२७)।

३९ राधाकृष्णन विज्ञान की लाभकारी बातों की चर्चा बड़े उत्साह से करते हैं।

सदर्भ

१ इस आयोग द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट आधुनिक भारत मे शिक्षा-सम्बन्धी चिंतन की दृष्टि स एक मूल्यवान दस्तावेज है।

२ यह अध्याय राधाकृष्णन के भारत के राष्ट्रपति होने और साहित्य अकादेमी उपाध्यक्ष पद का त्याग करने मे पहले लिखा गया था। अब वे साहित्य अकादमी के भी अध्यक्ष हैं।

३ वर्जिलियस फर्म द्वारा सपादित।

४ पाल आर्थर शिल्प द्वारा सपादित, १९५२ म टयूडर पब्लिशिंग कम्पनी द्वारा प्रकाशित। (बाद के सदर्भ निर्देशो म शिल्प द्वारा सपादित राधाकृष्णन के ऊपर इस ग्रथ के लिए केवल 'टयूडर' शब्द का ही प्रयोग किया जाएगा)।

५ फ्रैगमेंट ऑफ ए कन्फेशन (टयूडर, पृ० ५)।

६ वही।

७ उसी सदर्भ म वे लिखते हैं— मैं ऐस वातावरण म बड़ा हुआ जहाँ अदृश्य सत्ता जीवन्त सत्य थी।"

८ द रिलीजन आफ द स्पिरिट।

९ द रिलीजन ऑफ द स्पिरिट म उद्धृत (देखिए, टयूडर, पृ० ६)।

१० वही पृ० ७।

११ यह उल्लेखनीय है कि यह ग्रन्थ टगोर के बलाका, वनवाणी तथा परिशेष आदि संग्रहो की कविताएँ लिखने क बहुत पहले ही प्रकाशित हो चुका था। इसके अतिरिक्त राधाकृष्णन ने मूल बँगला रचनाओ का प्रत्यक्ष उपयोग नहीं किया था। इन असुविधाओ के बावजूद उनकी टैगोर की व्याख्या बहुत विश्वसनीय है।

१२ द फिलासफी आफ रवीन्द्रनाथ टगोर, पृ० १७७।

१३ इस पुस्तक म राधाकृष्णन मनुष्य की दुर्बलताओं और अपूर्णताओं पर बल देने क लिए धर्म की भी आलोचना करते हैं।

१४ खण्ड १, १९२३ म प्रकाशित, खण्ड २, १९२७ म।

६६ पी० टी० राजू ने अपनी पुस्तक आइडियलिस्टिक थाट ऑफ इंडिया में यह भली भांति दिखाया है कि किस प्रकार राधाकृष्णन भिन्न भिन्न कारणों से शंकर और रामानुज दोनों की ओर आकर्षित हुए हैं।

६७ एन आइडियलिस्ट व्यू आफ लाइफ, पृ० ११८।

६८ चार्ल्स ए० मूर राधाकृष्णन्स मेटाफिजिक्स एण्ड एथिक्स (देखिए टयूडर, पृ० ३०२)।

६९ ऐसा अंतर जो अनन्त उच्चतर और निम्नतर दृष्टिकोणों के बीच अन्तर के समान हो जाता है।

७० ईस्टर्न रिलीजन्स एण्ड वेस्टर्न थॉट, प० ८७।

७१ वही पृ० ८८।

७२ वही पृ० ८७।

७३ किन्तु वे यह भी कहते हैं —"वह अनवरत सृजनात्मक कार्य है जो हर वस्तु को यथार्थ बनाता है।" इसका अर्थ होगा कि निरपेक्ष 'आदर्श निवास' नहीं बल्कि वास्तविक स्रोत है।

७४ द भगवद्गीता, पृ० ३८।

७५ राधाकृष्णन कभी कभी यह धारणा उत्पन्न करते हैं कि उनकी दृष्टि में सृष्टि के बारे में सोच विचार अधिकतर निरर्थक ही है।

७६ ईस्टर्न रिलीजन्स एण्ड वेस्टर्न थाट, पृ० ६०।

७७ अपनी एक कविता में टैगोर ठीक यही शब्दावली व्यवहार करते हैं।

७८ माइ सर्च फार ट्रुथ पृ० २८।

७९ पी० टी० राजू राधाकृष्णन एण्ड इंडियन थाट (देखिए टयूडर, पृ० ५३६)।

८० एन आइडियलिस्ट व्यू आफ लाइफ, पृ० २०० (पाद टिप्पणी)।

८१ द स्पिरिट इन मन।

८२ इस विषय में उनके विचारों की तुलना बर्गसाँ के विचारों से की जा सकती है जो बुद्धि को सफल व्यावहारिक कार्य के क्षेत्र में स्थान देते हैं।

८३ रिप्लाइ टु क्रिटिक्स (टयूडर प० ७९०)।

८४ वही प० ७९१।

८५ एन आइडियलिस्ट व्यू आफ लाइफ, प० १४८।

८६ वही प० १५१।

८७ रिप्लाइ टु क्रिटिक्स (टयूडर, प० ७९१)।

४० राधाकृष्णन इस बात पर भी बल देते हैं कि दर्शन मूलत सज नात्मक है यान्त्रिकतापरक नहीं।

४१ चार्ल्स ए० मूर राधाकृष्णन्स मेटाफिजिक्स एण्ड एथिक्स (देखिए, टयूडर पृ० २८२)।

४२ एन आइडियलिस्ट व्यू आफ लाइफ, पृ० १६।

४३ वही, प० १७।

४४ जोड काउटर अटक फ्रॉम द ईस्ट, पृ० २४४।

४५ वही, पृ० २४५।

४६ ईस्टन रिलीजन्स एण्ड वस्टन थाट, पृ० ३१७।

४७ फ्रेगमट आफ ए कफैशन (देखिए टयूडर, पृ० १३)।

४८ ए० एन० मारलो स्पिरिचुअल रिलीजन एण्ड द फिलॉसफी ऑफ राधाकृष्णन।

४९ रिलीजन एण्ड सोसाइटी, प० २६।

५० एन आइडियलिस्ट व्यू आफ लाइफ, प० ३४२।

५१ वही, प० १५।

५२ डी० एम० दत्त द्वारा अपने निब ध राधाकृष्णन एण्ड कटेम्परेरी फ़िलासफी म उदधत (टयूडर, पृ० ६७१)।

५३ एन आइडियलिस्ट व्यू आफ लाइफ, पृ० ३४२।

५४ वही पृ० ३४३।

५५ ईस्टन रिलीजन्स एण्ड वस्टन थॉट, पृ० २९८।

५६ अपनी पुस्तक फिलासफी आफ द उपनिषदस मे राधाकृष्णन नवारात्मक धमदर्शन का वास्तविक महत्त्व दर्शाने का प्रयत्न करते हैं।

५७ द रिलीजन वी नीड, पृ० २२।

५८ एन आइडियलिस्ट व्यू आफ लाइफ, पृ० १०२।

५९ वही, पृ० १०३।

६० वही, पृ० ३४३।

६१ इडियन फिलॉसफी, खण्ड २, पृ० ६४९।

६२ वही पृ० ६४८।

६३ द हिन्दू व्यू आफ लाइफ, पृ ३१।

६४ एन आइडियलिस्ट व्यू आफ लाइफ, पृ० ३४४।

६५ कभी कभी राधाकृष्णन ईश्वर को मुख्यत जगत का 'धारितदाता' ही मानते हैं।

११९ इण्डियन फिलासफी, खण्ड २, पृ० ६२१।

१२० चार्ल्स ए० मूर राधाकृष्णनस मेटाफिजिक्स एण्ड एथिक्स (टयूडर, पृ० २८८)।

१२१ वही पृ० २६३।

१२२ इण्डियन फिलासफी, खण्ड २, पृ० ६२२।

१२३ वही पृ० ६२१।

१२४ ईस्टन रिलीजस एण्ड वस्टन थाट, प० ८२।

१२५ जोड काउटर अटक फ्राम द ईस्ट, प० १५१।

१२६ रिलीजन एण्ड सोसाइटी, प० १०५।

१२७ ईस्टन रिलीजस एण्ड वस्टन थाट, पृ० ८२।

१२८ द हाट आफ हिदुस्तान, पृ० २२।

१२९ द हिदू व्यू आफ लाइफ, प० ७८।

१३० रिलीजन एण्ड सोसाइटी, प० ११४।

१३१ द रिलीजन वी नीड, प० २७।

१३२ ईस्टन रिलीजस एण्ड वस्टन थाट, प० १०१।

१३३ वही, पृ० ६५।

१३४ पिछले वर्षों म राधाकृष्णन के नीतिशास्त्र म वराग्य विरोधी तत्त्व और भी प्रबल हो गया है।

१३५ फ्रगमेट आफ ए क्न्फशन (टयूडर प० २६०)।

१३६ प्रो० ए० आर० वाडिया कहत हैं—'राधाकृष्णन के उन समस्याओं के प्रति स्वस्थ स तुलित दृष्टिकोण की प्रशसा किय बिना नही रहा जा सकता जो पुरानी परम्पराओ और धार्मिक पूवग्रहो द्वारा सहज ही उत्पन्न लगती हैं। (सोशल फिलासफी आफ राधाकृष्णन टयूडर, प० ७८२)।

१३७ राधाकृष्णन स्वय तटस्थ नही हैं, वे आदशवाद स प्रतिबद्ध हैं।

१३८ ईस्टन रिलीजस एण्ड वस्टन थाट, पृ० ६५।

१३९ इसलिए व आग्रह करत हैं कि सर्वोच्च अथ म नैतिक स्वास्थ्य के लिए सपूण समृद्ध और बहुमुखी सस्कृति आवश्यक है।

१४० यहाँ टगोर का प्रभाव द्रष्टव्य है जो आग्रह करत थ कि स्वतत्रता और सयम साथ साथ चलते हैं। राधाकृष्णन और टगोर दानो अराजकतावादी प्रवृत्तियो को अस्वीकार करते हैं।

१४१ किन्तु व यह मानते हैं कि भाग्यवाद म थोडा बहुत काव्यात्मक आकषण अवश्य है।

८८ द रेन आफ रिलीजन इन कन्टम्परारी फिलासफी, पृ० ८।

८९ वही, पृ० ३।

९० वही, पृ० १४।

९१ वही, पृ० ५।

९२ माइ सर्च फार ट्रुथ, पृ० २८।

९३ द स्पिरिट इन मन।

९४ जार्ज पी० कानर राधाकृष्णनस वर्ल्ड (टयूनर पृ० ८१)।

९५ एन आइडियलिस्ट व्यू आफ लाइफ, पृ० ११२।

९६ द स्पिरिट इन मन।

९७ द स्पिरिट इन मन, तुलनीय द आइडियलिस्ट व्यू आफ लाइफ, पृ० १३७ भी।

९८ द आइडियलिस्ट व्यू आफ लाइफ, पृ० १८९।

९९ वही पृ० १४३।

१०० द स्पिरिट इन मन।

१०१ रिलीजन एण्ड सोसाइटी, पृ० ७७।

१०२ एन आइडियलिस्ट व्यू आफ लाइफ, पृ० ८२।

१०३ वही पृ० ९२।

१०४ ईस्टन रिलीजन्स एण्ड वस्टन थॉट पृ० २४।

१०५ एन आइडियलिस्ट व्यू आफ लाइफ, पृ० १५९।

१०६ द स्पिरिट इन मन।

१०७ वही।

१०८ एन आइडियलिस्ट व्यू ऑफ लाइफ, पृ० १३८।

१०९ वही पृ० १५२।

११० द हार्ट आफ हिन्दुस्तान, पृ० ५९।

१११ एन आइडियलिस्ट व्यू ऑफ लाइफ, पृ० १८७।

११२ ईस्टन रिलीजन्स एण्ड वस्टन थॉट, पृ० ८०।

११३ एन आइडियलिस्ट व्यू ऑफ लाइफ, पृ० ९९।

११४ ईस्टन रिलीजन्स एण्ड वस्टन थॉट, पृ० १०३।

११५ द हिन्दू व्यू आफ लाइफ, पृ० ६४।

११६ शर्मा द्वारा उद्धृत द रिनासाँस आफ हिन्दुइज्म, पृ० ६०७।

११७ ईस्टन रिलीजन्स एण्ड वस्टन थॉट, पृ० ९८।

११८ एन आइडियलिस्ट व्यू आफ लाइफ, पृ० २०४।

देखिए, रिलीजन एण्ड द वर्ल्ड क्राइसिस, और रेन ऑफ रिलीजन इन कंटम्पररी फिलासफी।

१६५ एन आइडियलिस्ट व्यू आफ लाइफ, पृ० ४४।

१६६ वही, पृ० ४५।

१६७ रिलीजन एण्ड सोसाइटी, पृ० ५३।

१६८ फ्रैगमेंट आफ ए कन्फेशन (टयूडर, पृ० ७६)।

१६९ राधाकृष्णन इस बात पर जोर देते हैं कि निराशावाद का एक ही उत्तर है कि आध्यात्मिक मूल्य को प्रगति के अक्षय स्रोत के रूप में स्वीकार कर लिया जाए।

१४२ द भगवद्गीता, पृ० ४८।

१४३ एन आइडियलिस्ट व्यू ऑफ लाइफ, पृ० २७८।

१४४ ईस्ट एण्ड वेस्ट : सम रिफ्लेक्शन्स, पृ० ५३।

१४५ वही, पृ० ५४।

१४६ द हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ, पृ० ३७।

१४७ तुलनीय, "हिन्दू धर्म ने असीम सौष्ठव के साथ प्रत्येक मानवीय आवश्यकता के साथ अनुकूलन कर लिया है।" (ईस्टर्न रिलीजन्स एण्ड वेस्टर्न थाट, पृ० ३१३)।

१४८ द हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ, पृ० १२८।

१४९ वही, पृ० १२८।

१५० वही, पृ० १२९।

१५१ वही, पृ० ९३।

१५२ फ्रैगमैंट आफ ए कन्फैशन (टयूडर, पृ० १०)।

१५३ तुलनीय 'अपने महान् युग में हिन्दू सभ्यता ने समुद्रों को पार करके, उपनिवेशों को बसाकर, संसार को सिखाकर और उससे सीखकर भी अपनी जीवन्त सक्रियता का परिचय दिया था।' (द हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ, पृ० १२८)।

१५४ फ्रैगमैंट आफ ए कन्फैशन (टयूडर, पृ० ११)।

१५५ दार्शनिक की दृष्टि से पाश्चात्य सभ्यता के संकट के विस्तृत विश्लेषण के लिए देखिए ईस्ट एण्ड वेस्ट : सम रिफ्लेक्शन्स।

१५६ राधाकृष्णन के साथ एक निजी वार्तालाप से जोड द्वारा उद्धृत

१५७ राधाकृष्णन भी कार्टेजियन परम्परा को 'पाश्चात्य दर्शन में विचारक आत्मा' को ऊँचा आंकने के लिए दोष देते हैं (एन आइडियलिस्ट व्यू आफ लाइफ, पृ० २७४)।

१५८ ईस्टर्न रिलीजन्स एण्ड वेस्टर्न थाट, पृ० ३४८।

१५९ वही पृ० ११५।

१६० वही, पूर्वपीठिका ७।

१६१ रिलीजन आफ द स्पिरिट एण्ड द वर्ल्ड्स नीड।

१६२ ईस्टर्न रिलीजन्स एण्ड वेस्टर्न थाट, पृ० २५६।

१६३ तुलनीय, फ्रैगमैंट आफ ए कन्फैशन में 'सर्वव्यापी धर्म' सम्बन्धी अनुभाग।

१६४ संस्थागत धर्मों की विशेष रूप से तीखी आलोचना के लिए,

मानवता के प्रति संवेदनशील अंतर्दृष्टि का अपूर्व मिश्रण है। वे भारतीय चिंतन और भावना के उन पक्षों को उभारते हैं जो आधुनिक मानवता की पीड़ित आत्मा को सान्त्वना प्रदान कर सकते हैं। कुमारस्वामी के सबसे लोकप्रिय निबन्ध संग्रह डांस आफ शिव की भूमिका में रोम्यां रोलां कहते हैं— मैं यूरोप वासियों को इस लययुक्त दर्शन का, चिन्तन की इस गहरी मन्द सुगन्ध के आनन्द का आस्वादन करने के लिए आमन्त्रित करता हूँ। इससे उन्हें उन गुणों से परिचय प्राप्त होगा जिनकी आज यूरोप को सबसे अधिक आवश्यकता है—शान्ति धैर्य आशा अनाकुल आनन्द—पवनहीन स्थान में निष्कंप दीप की भाँति।[3]

२

आनन्द कुमारस्वामी का जन्म २२ अगस्त १८७७ को कोलम्बो में हुआ था। उनके पिता सर मुत्तु कुमारस्वामी, सिंहली थे और उनकी माँ अंग्रेज। सर मुत्तु बैरिस्टर थे पर उनकी अभिरुचियाँ साहित्य और दर्शन तक फैली थीं। किसी पालि बौद्ध ग्रंथ का अंग्रेजी में अनुवाद करने वाले वे पहले व्यक्ति थे। आनन्द मुश्किल से दो वर्ष के होंगे जब उनके पिता की मृत्यु हो गई। उनका सारा बचपन और प्रारम्भिक काल इंगलैण्ड में बीता। उनकी शिक्षा पहले ग्लौस्टर शायर में वाइक्लिफ कॉलेज में और फिर लंदन विश्वविद्यालय में हुई। उनकी शिक्षा मुख्यतः विज्ञान की थी यद्यपि वे रस्किन और विलियम मॉरिस के प्रभाव में भी आए। उनका डॉक्टरेट का प्रबन्ध श्रीलंका की भौमिकी पर था। पच्चीस वर्ष की अवस्था में ही उन्हें श्रीलंका के खनिज विज्ञानीय सर्वेक्षण के निदेशक का पद सौंपा गया। अपने पेशे के काम में उन्हें श्रीलंका और भारत की कलाओं और दस्तकारियों को पाश्चात्य औद्योगिक सभ्यता ने जो क्षति पहुँचाई थी उसे देखने के पर्याप्त अवसर मिले।[4] क्रमशः वे प्राच्य संस्कृति के सभी पक्षों, विशेषकर ललितकलाओं के गहन अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए। शीघ्र ही उन्होंने यह समझ लिया कि उनके जीवन का काम उन मूल्यों और जीवन विधियों का निरूपण और रक्षण है जो यूरोपीय सभ्यता की आक्रामक प्रगति से संकट में थीं।

अपना शेष जीवन कुमारस्वामी ने 'शुद्ध मनीषी' के रूप में केवल मात्र सत्य और ज्ञान की लालसा से प्रेरित होकर बिताया। तीस वर्ष से भी अधिक उन्होंने बोस्टन के ललितकला संग्रहालय में काम किया। वे अविराम परिश्रम करते रहे—अध्ययन और संग्रह करते हुए व्याख्या और विश्लेषण करते हुए दूरस्थ स्रोतों [illegible] और विचारों के बीच समानताएँ खोजते हुए। उनका पत्र व्यवहार

नवाँ अध्याय

कुमारस्वामी

१

आधुनिक भारतीय चिन्तन के अपने सर्वेक्षण मे हमने देखा है कि विभिन्न प्रकार से लगभग सभी चिन्तको म एक ओर यह इच्छा है कि भारतीय विरासत का जितना हो सके उतना अश सुरक्षित रखा जाए और साथ-ही व हमारे युग के नए मूल्यों और नई चुनौतियों से भी समझौता करना चाहते हैं। लगभग प्रत्येक महत्त्वपूर्ण चिन्तक म अनुवर्ती, बल्कि क्रान्तिकारी, तत्त्व मौजूद है।[1] उनमे एक साथ ही दो भिन्न आवश्यकताओं पर ध्यान देने का प्रयास दिखाई पड़ता है—परम्परा का आदर और कट्टर तथा घिसे-पिटे तत्त्वों के भारभार से भारतीय मानस को मुक्त करने की इच्छा।

परम्परागत दृष्टिकोण की सम्पूर्ण और बिना शर्त स्वीकृति हमें बहुत कम ही दिखाई पड़ती है। आम तौर पर अतीत की परम आज्ञाकारिता रूढ़िवादिता और सकीर्णता की सहगामिनी के रूप म ही दिखाई पड़ता है। किन्तु इसका एक उल्लेखनीय अपवाद है। आनन्द कुमारस्वामी ऐसे विद्वान और चिन्तक हैं जो भारतीय परम्परा से पूर्णतया सयुक्त होकर भी उस परम्परा की सर्जनात्मक और कलात्मक व्याख्या करने मे समर्थ हैं। वास्तव म, आधुनिक भारतीय चिन्तन म कुमारस्वामी की एक महानतम देन जैसा कि हम शीघ्र ही अधिक विस्तार स देखेंगे, यह है कि उन्होंने परम्परागत जीवन पद्धति म जो कुछ भी उच्चतम महत्त्व का है उसे सौंदर्यपरक दिशा देने की क्षमता दिखाई है। यह सही है कि उनका सब भारतीय बातो का समर्थन कभी कभी उन्हें ऐसी बातो की उपेक्षा करने को बाध्य करता है जिनकी उपेक्षा वास्तव म नहीं की जा सकती। पर उनके विवेचन की बहुमुखी प्रखरता और प्रौढ़ता को देखते हुए यह कोई बहुत बड़ा दोष नहीं।[2] कुमारस्वामी की रचनाओं म परिश्रमपूर्ण पाण्डित्य और समस्त सुन्दरता और

प्राच्य संस्कृतियाँ थे, उनके सम्पर्क के सबसे नाटकीय क्षण मे, स्वप्नलोक की भांति प्रतिबिम्बित करती है। युग के मानस को—संश्लेषणात्मक, केवल सारग्राही रहा—अकबर जैसे व्यक्ति के चरित्र मे—जिसका सुसंस्कृत मन फारसी और भारतीय चिन्तन की धाराओ से समान रूप से पोषित था—सबसे सच्ची अभिव्यक्ति मिली है।'[१०] कुमारस्वामी की कृतियो में रूसी और गजाली का उल्लेख है जो हिंदू धर्म और इस्लामी एकेश्वरवाद के बीच गहनतर समानता को सूचित करते हैं।

किन्तु वे भारतीय परम्परा के भीतर विभिन्न तत्वों के बीच सामंजस्य दिखाकर ही संतुष्ट नही है। पाश्चात्य सभ्यता की तीव्र और प्रायः कटु निन्दा के बावजूद कुमारस्वामी विनिपक्व अपने परवर्ती लेखन में, सच्चे विश्वप्रेमी के रूप में सामने आते हैं। वे मानव संस्कृति की मूलभूत एकता की चर्चा करते हैं। वे कहते हैं—'सभ्यता को अब से स्थानीय अथवा राष्ट्रीय के बजाय मानवीय होना होगा अन्यथा वह जीवित नहीं रह सकती।[११] भारत पर अपने गर्व के बावजूद वे यह कहने में नही झिझकते कि "राष्ट्रवाद पर्याप्त नहीं है। देशभक्ति संकीर्ण बल्कि तुच्छ भी हो सकती है और महान् आत्माओं के लिए और भी श्रेष्ठतर कार्य मौजूद है केवल भारतीय जीवन नहीं, बल्कि जीवन मात्र हमारी भक्ति का पात्र है।"[१२] और यह अंश और भी अधिक भावपूर्ण है— आदर्शवाद की आदर्शवाद से ही कैसे भिन्नता हो सकती है? भविष्य के निर्वाचित जन कोई जाति या राष्ट्र नहीं, बल्कि पृथ्वी भर का ऐसा अभिजात वर्ग होगा जो यूरोपीय तरुणाई के पौरुष को एशियाई वयोवृद्धता के धैर्य से संयुक्त कर सके।[१३]

सत्य यह है कि कुमारस्वामी पूर्व और पश्चिम के बीच उतनी तीव्र विषमता नही देखते जितनी उनके कृतित्व से सतही परिचय के बाद लोग बतलाया करते है। इसके विपरीत वे उस परम्परागत दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं जिसे बहुत शताब्दियों तक पूर्व और पश्चिम दोनो मानते रहे हैं। वे पूछते हैं—'क्या हम कोई ऐसा मूलभूत अनुभूति या चरम लक्ष्य बता सकते हैं जो समान रूप से यूरोपीय और एशियाई दोनो नही है, एशियाई पैगम्बरों का उल्लेख करें तो जिसने रूमी, टाआत्स जीसस की शंकर और कबीर की उपनिषदों की शुद्ध पर्वतीय हवा में साँस ली है, वह क्या कभी उनके लिए पराया हो सकता है जो अफलातून, दान्ते ब्लेक, रुइसब्रोएक, व्हिटमन, नीत्शे लेक के चरणों में बैठे हैं?'[१४]

बड़ा विस्तृत था और दुनिया भर में फैले हुए असंख्य शोधार्थियों ने उनसे अधिक-से अधिक उदारतापूर्वक और निःस्वार्थ सहायता प्राप्त की। १९४७ में अपनी मृत्यु के समय उन्होंने टिप्पणियों और निबन्धों का विशाल भण्डार छोड़ा जिसे अभी तक व्यवस्थित किया जा रहा है।[5] उनकी पत्नी उनके शोधकार्य में सहायता करती थीं और हर दृष्टि में उनकी योग्य संगिनी थीं।

कुमारस्वामी हमें प्राचीन युग के उन सर्वांगीण प्रकाण्ड मेधावी पण्डितों की याद दिलाते हैं जो विशेषज्ञता पर बल देने वाले इस आधुनिक युग में इतने विरल हैं। प्राचीन काल के ज्ञानी मनीषियों की भाँति, अफ़लातून और लियोनार्दो दा विंची की भाँति वे समस्त ज्ञान को अपना क्षेत्र मानते थे। वे विश्वास करते थे कि उपयोगी ज्ञान के लिए ज्ञान का सर्वग्राही होना आवश्यक है। उन्होंने स्वयं कोई दर्जन भर भाषाएँ सीखीं और उनकी पादटिप्पणियाँ उनके भाषा विज्ञान के ज्ञान की उत्तम साक्षी हैं। उनकी अभिरुचियों के विस्तार का अनुमान उनके ग्रंथों और निबन्धों के शीर्षकों तक से लग सकता है। कुछेक का ही उल्लेख करें तो, कला और सौंदर्यशास्त्र विषयक हैं हिस्ट्री आफ इंडियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, अर्ली इंडियन आर्किटेक्चर, मेडीवल सिंहालीज़ आर्ट, राजपूत पेंटिंग मार्डन इंडियन पेंटिंग तथा आभास और परोक्ष पर विशेष निबन्ध।[6] दर्शन और धर्म विषयक हैं, द पारेनियल्स ऑफ फिलासफी, रिकलेक्शन इंडियन एण्ड प्लेटोनिक, प्रेडेस्टिनल इवोल्यूशन एण्ड रिइन्कार्नेशन, नोट्स ऑन द गीता।[7] डांस आफ शिव और ट्रांसफार्मेशन आफ नेचर इन आर्ट नामक दो विख्यात निबन्ध संग्रहों में तुलनात्मक धर्म, ज्ञानमीमांसा, सांस्कृतिक दर्शन और सामाजिक चिंतन विषयक मूल्यवान अध्ययन हैं। उन्होंने राजनीतिक और शिक्षा-सम्बन्धी विषयों पर भी निबन्ध लिखे हैं। वास्तव में उनके कार्य पर दृष्टि डालते ही अचरज होता है कि एक जीवन में इतना सब कार्य कैसे सम्भव हुआ होगा।

उनका पाण्डित्य कभी भी सारसंग्रही अथवा पक्षधर नहीं रहा। किसी भी विषय पर वे समस्त सामग्री पर ध्यान दिये बिना कोई सामान्य सिद्धान्त नहीं बनाते थे। और जब वे भारत की परम्परागत संस्कृति की चर्चा करते थे तो उनका अभिप्राय केवल हिंदुओं की उपलब्धि से न होता था। बौद्ध धर्म का उनका अध्ययन गहन भी था और गम्भीर भी।[8] बौद्ध चिन्तन के सकारात्मक पक्षों पर बल देने वालों में वे सर्वप्रथम थे। भारतीय संस्कृति में, विशेषकर संगीत और चित्रकला में,[9] इस्लाम के योग का उन्होंने बार बार उल्लेख किया है। एक महत्त्वपूर्ण वाक्य है— 'मुगल कला यथार्थ जगत को दो महान्

फिर किसी स्वदेशी साबुन कम्पनी में एक दो हिस्से खरीदकर अपनी आत्मा को बचाना चाहता है।'[२०] कारखाना युग भारत में केवल कुरूपता अश्रद्धा को ही लाया है। जो कुछ उसके स्वभाव के प्रतिकूल है और प्राय जो कुछ उसके पास मौजूद है उससे हीनतर है उसके दासतापूर्ण अनुकरण को ही लाया है। [२१] कुमारस्वामी उन कला कौशलों की चतुर्दिक श्रेष्ठता की चर्चा करते हैं जो किसी समय भारत की आत्मा को प्रतिबिम्बित करते थे। 'वे झीनी मलमल या फूलों से बुने रेशमी कपड़े जिनसे हम अपनी भारतीय स्त्रियों के सौन्दर्य की पूजा किया करते थे, वे पीतल के बर्तन जिनमें हम खाया पिया करते थे वे कालीन जिन पर हम नंगे पैरों चला करते थे वे चित्र जो हमारे सामने राधा का प्रेम और अनन्त हिम की आत्मा का उद्घाटन करते थे आज कहाँ हैं?'[२२] निपुणता के नाम पर जीवन की इन परिष्कृतियों का स्थान नीरस सदृशता ने ले लिया है जो हमें मनुष्यत्वहीन बनाती है। वस्तुएँ मनुष्यों से अधिक महत्त्वपूर्ण होती जा रही हैं और मशीन का राक्षस उन सब चीज़ों को कुचल रहा है जो किसी समय हमें प्रिय थीं।[२३]

भारत को जागकर यह समझना चाहिए कि वह केवल "अपनी भारतीयता बनाए रखकर"[२४] ही अपने आपको परिपूर्ण कर सकता है। उसे अपनी विशेष भूमिका नहीं छोड़नी चाहिए। और वह भूमिका क्या है? वह यह सिद्ध करना है जो केवल भारत ही कर सकता है, कि धर्म और दर्शन में जड़ें रखने वाली जीवन प्रणाली ही अधिक से अधिक मनोहर सुन्दर और सन्तोषप्रद हो सकती है। भारत के लिए दर्शन कभी भी निरा बौद्धिक अभ्यास नहीं रहा उसे सदा ही जीवन के नक्शे की कुंजी समझा गया है। यदि यह पूछा जाए कि विश्व सभ्यता की प्राप्ति के लिए भारत कौन सी आन्तरिक सम्पत्ति प्रस्तुत करता है तो उत्तर उसके धर्म और दर्शन में अमूर्त सिद्धान्तों को व्यावहारिक जीवन में लागू करने में खोजना होगा।[२५] यूरोप को भारत की इस आन्तरिक सम्पत्ति का उपयोग करना चाहिए। "यदि अज्ञानवश अथवा एशिया को तुच्छ समझने के कारण रचनात्मक यूरोपीय चिन्तक पौर्वात्य दार्शनिकों से सहयोग करने में चूक गया तो ऐसा समय आ जाएगा जब यूरोप उद्योगवाद से लड़ ही नहीं सकेगा क्योंकि तब तक शत्रु भारत में भी अपने पैर जमा चुका होगा।'[२६] और भी अधिक अमंगल-सूचक चेतावनी देते हुए वे कहते हैं "यदि एशिया यूरोप के साथ नहीं हुआ तो वह उसके विरुद्ध होगा और सम्भव है कि आदर्शवादी यूरोप और भौतिकवादी हो गए एशिया के बीच भयंकर संघर्ष छिड़ जाए।"[२७]

कुमारस्वामी के ये वाक्य लिखने के बाद से पूर्व और पश्चिम के

३

पर 'परम्परागत दृष्टिकोण' से कुमारस्वामी का ठीक-ठीक अभिप्राय क्या है ? उनके मन मे प्राचीन और पूव मध्ययुग की वह सभ्यता है जिसकी जडे मूलत धार्मिक जीवन-पद्धति म थी। यह सभ्यता जितनी पूर्वीय थी उतनी ही पाश्चात्य भी थी। यूरोपीय पुनर्जागरण तक दोना गोलार्धों के बीच कोई खाई न थी। 'यूरोपीय सभ्यता का महान चक्र बारहवीं और तेरहवी शताब्दी मे अपने शिखर पर पहुचा। तेरहवी से बीसवी शताब्दी तक हम जीवन का अधिकाधिक विघटन देख सकते हैं—सजनात्मक इच्छा शक्ति की क्षीणतर होती अभिव्यक्ति दृष्टि का ह्रास पूण अराजकता के इस क्षण तक, जब जीवन और कला शताब्दिया की लक्ष्यहीनता के प्रमाण हैं।'[१४] कुमारस्वामी अफलातून मे तथा आरफियस के रहस्या मे, सन्त अगस्तीन म, मीस्टर एकहार्ट और टामस ए० केम्पिस मे वही आध्यात्मिक प्रेरणा देखते हैं जो महायान बौद्ध धम की, चण्डीदास और टगोर की रचनाओ को अनुप्राणित करती है। 'यदि हम आज के आधुनिकतावादी, व्यक्तिवादी दशनो को छोड दें और केवल महामना दार्शनिकों की महान् परम्परा पर विचार करें, तो यह पता चलेगा कि पूव और पश्चिम के बीच अन्तर बोलिया के अन्तर के समान हैं जब कि मूलभूत आध्यात्मिक भाषा एक ही है।'[१६]

पर पुनर्जागरण के बाद विश्व सस्कृति की एकता भग हो गई और औद्योगिकता की वृद्धि के साथ पूरी स्थिति ही जड से बदल गई। पश्चिम अपने धार्मिक आधार से कट गया और पूव म विशेषकर भारत म जीवन और चिन्तन पहले की भाँति चलता रहा। "अफलातून के दशन जसा दशन एक प्राच्य ग्राम में आज भी जीवन्त शक्ति है हमारे किसान गहन दार्शनिक महत्त्व के महाकाव्योपम साहित्य से और असीम मूल्य के काव्य और सगीत से भली भाँति परिचित है।'[१७] कुमारस्वामी आधुनिक पश्चिम के आक्रामक अतिक्रमण द्वारा इस निराकुल आत्मसन्तुष्ट जीवन के ढाँचे म व्याघात पर दुखी हैं। "भारतीय जीवन का सौन्दय और तक आज मरणशील अतीत का अग है। उन्नीसवी शताब्दी ने भ्रष्ट बहुत कुछ किया है रचा कुछ नही।'[१८] नई शिक्षा पद्धति *और समाज के नए ढाँचे ने "एक ऐसे सतही और श्रेणीहीन मनुष्य को, जिसकी* कोई जडें नही, एक प्रकार के बौद्धिक अछूत को'[१९] उत्पन्न किया है।

कटु व्यग्य के साथ कुमारस्वामी उस पश्चिमी रग म रगे भारतीय की चर्चा करते हैं जो 'अपने घर की दीवारो को सस्ते तैलचित्रो से बदसूरत करता है यूरोपीय सगीत के कर्कश रिकार्डों से आनन्द पाने का ढोग रचता है और

विज्ञान शक्तियों की अंध संकल्पों के रूप में कल्पना करता है वहाँ सर्वात्मवाद (जो भी एक प्रकार का दर्शन ही है) इन शक्तियों को मूर्त रूप देकर उनमें स्वतन्त्र संकल्प शक्ति की प्रतिष्ठा करता है।'[२६] वे दोनों ही 'प्रस्तुति के प्रकारों से सम्बन्धित हैं। वे दोनों ही उस अस्तित्व को, जो वस्तुओं की नाना वे मन में, तत्त्वों, मूल जातियों और प्रजातियों के रूप में है'' जान खोजते है। वे दोनों ही 'ज्ञात वस्तुओं के सम्बन्ध में संकल्प की गतिविधि का नियन्त्रण करना चाहते हैं।

पर एक भिन्न और उच्च प्रकार का दर्शन भी होता है—वह है 'आत्मिक ज्ञान' उद्घाटित सत्य तत्त्वमीमांसीय विज्ञता। उसे प्रथम दर्शन कहना उचित है—कालक्रम में नहीं, मूल्यात्मक दृष्टि से प्रथम। उच्चतर दर्शन निम्न दर्शन को अस्वीकार नहीं करता। इसके विपरीत मानव विज्ञता से तत्त्वमीमांसीय विज्ञता को अपने से पूर्ववर्ती मानकर उसे तत्त्वमीमांसीय चिन्तना के आंशिक सादृश्यमूलक विवेचन के लिए लागू किया जा सकता है। कुमारस्वामी सावधानी के साथ यह धारणा उत्पन्न करने से बचते हैं कि दोनों अनुशासनों के बीच कोई ऐसी खाई है जिसे पाटा नहीं जा सकता। यद्यपि दोनों विज्ञताएँ भिन्न प्रकार की हैं फिर भी उनके बीच संयोग या सामंजस्य सम्भव है दोनों ही एक दूसरे पर, यद्यपि विभिन्न रूप में निर्भर हैं विज्ञान अपने संशोधन के लिए उद्घाटित सत्य पर निर्भर करते हैं और उद्घाटित सत्य उदाहरण द्वारा निरूपण के लिए विज्ञानों पर निर्भर होता है।'[३]

इस उच्चतर दर्शन में निम्न दर्शन का सम्पूर्ण क्षेत्र अन्तर्निहित रहता है पर उसमें 'ऐसी सत्ताओं का जमकर विवेचन होता है जो देशकालमूलक गठन में पूर्णतः नहीं आती। वह परिवर्तन से स्वतन्त्र एक 'अभी' की यथार्थता को पुष्ट करता है। वह प्रत्येक सूक्ष्म तथ्य में सम्पूर्ण विश्व से सम्बन्धित यथार्थता के प्रतीक को खोज पाता है। इस प्रथम दर्शन में धर्म और तत्त्वमीमांसा का हंसी हंसी मिलन होता है। उद्घाटन द्वारा ज्ञात सिद्धान्त के रूप में सर्वोच्च विज्ञता की—जो अन्ततः अबुद्धिगम्य वस्तुओं से सम्बद्ध होकर भी अपने-आपमें सुसंगत किन्तु अव्यवस्थित और बुद्धिगम्य है—हमारी पहली समस्या है धर्म और तत्त्वमीमांसा को विभाजित किए बिना ही उनमें अन्तर कर सकना यह विभेद है पृथक्ता नहीं, जैसा सार और गुण के विषय में होता है।'[३१] कुमारस्वामी मानते हैं कि परम्परागत भारतीय चिन्तन में इस समस्या का उचित समाधान मौजूद है। धर्म और तत्त्वमीमांसा में सामंजस्य स्थापित कर लिया गया है और 'ज्ञानविषयक विज्ञता' को सुन्दर ढंग से उच्चतर विज्ञता की प्राप्ति के

वचारिक सम्बन्धो मे बहुत से परिवतन हो चुके हैं। उनका विश्लेषण अब समस्याओ के अतिसरलीकरण पर आधारित जान पडता है। 'आदशवादी यूरोप' और 'भौतिकवादी एशिया' के बीच भावी विभाजन के विचार को अब बहुत कम लोग स्वीकार करेंगे। और भी कम व्यक्ति यह मानेंगे कि औद्योगिक विकास निरा अनिष्ट अथवा दाशनिक सम्पूणता के लिए निता त बाधा मात्र है। फिर भी कुमारस्वामी 'सनातन दशन' के सवव्यापी मूल्य व पक्षो की, तथा उसके लिए उत्पन्न खतरो की ओर ध्यान आकर्षित करके बडी भारी सेवा कर रहे थे।[२५]

पर यह पूछा जा सकता है कि जिस 'सनातन दशन की वे चचा करते हैं वह कोई यथाथ वस्तु है अथवा निरी शब्दावली मात्र जो केवल कुछ बिम्ब आग्रत करती है। यह स्वीकार करना होगा कि कुमारस्वामी ने परम्परागत दष्टिकोण की यथाथ विशेषताओ को स्पष्ट करने के कतव्य से बचना नही चाहा है। अपने निबन्ध पटिनेस आफ फिलासफी म व दो प्रकार के दशन बताते हैं। उनकी युक्तियो को सक्षेप मे प्रस्तुत करना उपयोगी होगा। सबसे पहले जिसे व 'ज्ञान के विषय म चिन्तना' का वणन करते हैं, ऐसी चिन्तना जो मनुष्य की वज्ञानिक तकनापरक साज सज्जा पर आधारित है। 'ऐसी चिन्तना व्यवस्थित होनी चाहिए, और व्यवस्था बन्द होनी चाहिए जो दश-काल और काय कारण के क्षेत्र तक सीमित हो क्योंकि वह प्राक्कल्पना द्वारा ज्ञेय और निश्चित वस्तुओ के विषय मे है।" इस प्रकार की चिन्तता कभी निश्चित स्थापनाएँ नहीं कर सकती, वह केवल सफलता की अधिक सम्भावनाओ की भविष्यवाणी कर सकती है।

इस दशन के अनुरूप, जिसम "मानव चिन्तना केवल अपने आप निभर रहती है एक ऐसा धम प्रकट होता है जिसे केवल प्राकृतिक धम' कहा जा सकता है। इस धम का 'देवता वह निर्दिष्ट शक्ति है जिसका काय सब जगह दिखाई पडता है पर जो किसी तरह विश्लेषण म नहीं आती, जैसे जीवन' या उर्जा।" यह प्राकृतिक धम सर्वेश्वरवाद का या बहुदेववाद का, या दार्शनिक बहुत्ववाद का भी रूप ले सकता है, पर सवात्मवादी दष्टिकोण सदा विद्यमान रहता है। वह 'विश्व की आत्मा' की कल्पना करता है या 'शक्तियो की सहायता का सहारा लेता है जिससे दश्य वस्तुओ और गतिविधियो के जगत की व्याख्या कर सके। कुमारस्वामी का कहना है—और यह चौंका देनेवाला कथन है—कि विज्ञान सर्वात्मवाद का विरोधी होना तो दूर वास्तव म उसका समथक है। 'विज्ञान सर्वात्मवाद स केवल इस बात में भिन्न है कि जहाँ

विपरीत तत्वों के घात प्रतिघात में ही सम्पूर्ण सदवस्तामूलक जीवन शाश्वत सम्भवन निहित है।"[33] यह शाश्वत सम्भवन, यह प्रतिपक्षों का अन्तहीन जुलूस भारतीय मानस के लिए कोई कठिनाई नहीं प्रस्तुत करता क्योंकि वह उसके पीछे छिपे उस सौन्दर्य को देख पाता है जो जीवन को एकता प्रदान करता है। कुमारस्वामी कहते हैं— भारतीय अनुभव का केन्द्र और सार समस्त जीवन की निरन्तर अनन्त प्रभा में और उस सहज अमिट विश्वास में है कि इस एकता की स्वीकृति ही सर्वोच्च शिव और अधिकतम स्वतन्त्रता है।'[34]

कुमारस्वामी ने भारतीय चिन्तन के इस केन्द्रीय सार पर आग्रह करके न केवल परम्परागत दर्शन और धर्म के अध्ययन पर एक नया बल दिया, बल्कि भारतीय राष्ट्र के पुनरुत्थान के लिए एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी उठाया। वे राष्ट्रवाद की अवधारणा के मूलभूत तत्वों के पुनर्परीक्षण पर बार बार आग्रह करते रहे। वे कहते थे कि सच्ची देशभक्ति की माँग है कि हमारा देश अपनी सुन्दरता और शोभा के भंडार की रक्षा करके उसे और भी समृद्ध करे। उन्होंने राजनीतिज्ञों से पूछा है— क्या आपने कभी समझा है कि राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र किन्तु अपनी अन्तरात्मा में यूरोप द्वारा परास्त, भारत ऐसा आदर्श नहीं प्रस्तुत कर सकता जिसके लिए कोई जिए या मरे?' देशभक्ति के कर्त्तव्य के प्रचलित नारे का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा था— क्या आपको कभी यह भी सूझा है कि अपने जीवन और अपने परिवेश को नैतिक बनाना जितना आवश्यक है उतना ही उन्हें सुन्दर बनाना भी—बल्कि यह भी कि सुन्दरता के बिना सच्ची नैतिकता सम्भव नहीं, ठीक वैसे ही जैसे नैतिकता के बिना सच्ची सुन्दरता सम्भव नहीं?[35]

इस भाँति राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की अवधारणा का विस्तार करके कुमारस्वामी ने राष्ट्रीय जीवन के एक ऐसे पक्ष की ओर ध्यान खींचा है जिसकी उपेक्षा करना खतरनाक है। उन्होंने शुद्ध वितर्क और शुद्ध राजनीति के एकांगी रवैये में अत्यधिक आवश्यक संशोधन प्रस्तुत किया है। वास्तव में शुद्ध राजनीतिज्ञ तो "आदर्शवादी अर्थ में प्रायः तनिक भी राष्ट्रवादी नहीं होता।' चरम विश्लेषण में राष्ट्र अपने कलाकारों द्वारा ही निर्मित होता है। स्वर्ग का राज्य भीतर है बाहर नहीं, राष्ट्रों की स्वतन्त्रता के विषय में भी यही सच है। यह कवियों का—कवि, चित्रकार, मूर्तिकार, संगीतकार, कलाकार सब पर्यायवाची शब्द हैं—काम है कि अपने श्रोताओं को स्वतन्त्र बनायें। ये ही राष्ट्रों का स्थान निर्धारित करते हैं।'[36] जब कुमारस्वामी ने ये विचार प्रकट किए तो कुछ लोगों को लगा कि वे विभाजी स्वर उठा रहे हैं। टैगोर ने भी इस

लिए मानव चेतना को तैयार करने के काम में लगाया गया है। इसके अतिरिक्त इस तैयारी का वास्तविक जीवन के सभी पक्षों में व्याप्त हो जाने दिया गया है, उसे मन या आत्मा की एकान्त प्रक्रियाओं तक ही सीमित नहीं रखा गया है।

'सनातन दर्शन का यह निरूपण चाहे मौलिक न हो—वास्तव में कुमारस्वामी बार-बार कहते हैं कि मौलिक नहीं है—पर वह ओजस्वी और व्यापक है। कुमारस्वामी की उपलब्धि को प्रस्तुत करने के लिए रोम्याँ रोलां के शब्दों से बेहतर शब्द मिलना कठिन है—' कुमारस्वामी की रचना (डांस ऑफ शिव) का उद्देश्य है भारतीय आत्मा की शक्ति को दिखाना, उस समस्त वैभव को दिखाना जो उसके भीतर संचित है। भारत का विराट और प्रशान्त तत्त्व चिन्तन प्रकट होता है—उसकी जगत् की अवधारणा, उसका सामाजिक संगठन उसकी कला का तेजस्वी उद्घाटन। इस ग्रन्थ के सघन और सुव्यवस्थित प्रासाद से भारत की संपूर्ण विराट आत्मा एक परम समन्वय की प्रधानता की घोषणा करती है।[३२]

४

कुमारस्वामी के इस परम समन्वय के निरूपण की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उनका अपने अध्ययन के विषय के सम्बन्ध में सुसंगत सौन्दर्यपरक दृष्टिकोण ही बना रहता है। टैगोर और अरविन्द ने भी भारतीय चिंतन और धर्म की कला-अनुभूति के रूप में व्याख्या की है। पर उन्होंने कवि-रूप में लिखा है विद्वान के रूप में नहीं। कुमारस्वामी निरन्तर विद्वत्ता के क्षेत्र में ही रहते हैं। वे अपनी व्याख्याओं को कवि कल्पना से प्रभावित नहीं होने देते, वे अपना आधार दृढ़तापूर्वक मूल ग्रन्थों को ही बनाते हैं। वे कहते हैं—"हम शुद्ध शास्त्रीय दृष्टिकोण से लिख रहे हैं गणित जैसी सुनिश्चितता से बात कहने का प्रयास करते हैं पर कभी अपने शब्दों द्वारा नहीं कहते और न ऐसी स्थापनाएँ करते हैं जिनके लिए शास्त्र का सुनिश्चित प्रमाण न दिया जा सके। किसी ने ठीक ही में कहा है कि कुमारस्वामी की लेखनी सूक्ष्मता के औजार की भाँति है। सचमुच आधुनिक अध्ययन के क्षेत्र में ऐसा दूसरा उदाहरण नहीं है जिसमें ब्यौरे के प्रति इतनी सतर्कता के साथ-साथ जो कुछ सौन्दर्य दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है उसके लिए ऐसा सहज बोध भी मौजूद हो

कुमारस्वामी भारतीय दर्शन में 'विश्व प्रक्रिया के लयपूर्ण स्वरूप' के सम्प्रेषण का बहुमुखी प्रयास देखते हैं। इस लयबोध के कारण ही भारतीय मानस ज्ञाता और विषय, आत्म और अनात्म, एकता और अनेकता जीवन और मरण जैसे युग्मों से सामना होने पर अपना संतुलन बनाए रख सका है।' इन परस्पर

संदर्भ

१ यह विचारणीय है कि आर्य समाज के अनुयायी भी, जो मूलतः खुला प्राचीनतावादी आन्दोलन था, परम्परा की बिना शर्त स्वीकृति की माँग नहीं करते थे।

२ कुमारस्वामी के लेखन में बीच बीच मे तीखी व्यंग्य की धार है, विशेषकर जब वे पश्चिम के 'सभ्य बनाने के दायित्व' का उल्लेख करते हैं।

३ रोम्याँ रोलाँ डांस आफ शिव की भूमिका।

४ तुलनीय, वस्त्र उत्पादन के कलात्मक रूप पर रासायनिक रंगों के विनाशकारी प्रभाव के विषय में उनके विचार।

५ कुछेक जीवनी सम्बन्धी बातें आर० ए० पार्कर की कुमारस्वामी की द बगवेयर आफ इल्लिटरेसी नामक पुस्तक की भूमिका से ली गई हैं।

६ भारतीय कला के कुछ विशिष्ट पक्षों के भी बड़े सुन्दर अध्ययन हैं, जैसे 'भारतीय चित्रों में रात्रि प्रभाव' 'बहुभुज मूर्तियाँ', और मूर्तिकला में मुख पर भावाभिव्यक्ति'।

७ उनके अन्तिम अध्ययनों में एक है 'नृत्य के लिए शब्द और आकाश की तत्त्वमीमांसा।

८ कुमारस्वामी ने बुद्ध के जीवन की बहुत सी घटनाओं की अत्यन्त ज्ञानपूर्ण प्रतीकात्मक व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं।

९ अपने एक निबन्ध में उन्होंने एक सूफी संगीतज्ञ अब्दुर्रहीम का बड़ा हृदयस्पर्शी वर्णन किया है जो 'प्रामाणिकतम धार्मिक भावना से वैष्णव गीत गाया करता था।

१० वे दिखाते हैं कि किस प्रकार मुगल कला स्थानीय भारतीय परम्पराओं को आत्मसात करके पूर्णतः राष्ट्रीय हो गई थी। तुलनीय, आर्ट एण्ड स्वदेशी पृ० ८६।

११ डांस आफ शिव पृ० १५१।

१२ वही पृ० १८०।

ही कारणों से दर्शकों को बहुत अप्रसन्न किया था। किन्तु आज पिछली दो दशाब्दियों में जो कुछ घटित हुआ है उसके बाद, भारतीय संस्कृति का इतिहासकार कुमारस्वामी जैसे व्यक्तियों का कृतज्ञ हुए बिना नहीं रह सकता जिन्होंने जीवन और चिन्तन के प्रति सौन्दर्यपरक दृष्टिकोण का समर्थन किया। और न हम इस बात के लिए कुमारस्वामी की प्रशंसा किए बिना रह सकते हैं कि इस सौन्दर्यपरक दृष्टिकोण के सबसे अभिव्यंजनापूर्ण प्रतीक के रूप में उन्हें नटराज शिव की आकृति सूझी। इस आकृति में उन्हें 'सत्य की एक मूर्ति, जीवन के जटिल तान बान की एक कुंजी प्रकृति की ऐसी धारणा जिसका आकर्षण सभी युगों और सभी देशों के दार्शनिक, प्रेमी कवि और कलाकारों के लिए सर्वव्यापी था," दिखाई पड़ी। उन्हें दीख पड़ी 'भारत के ऋषि-कलाकारों की महान सर्जन शक्ति—ऐसी शक्ति जो इतने गहन रूप में महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य मूलभूत रूप की इतनी अभिव्यंजना से परिपूर्ण, रूप खोज सकी।"[३३]

१३ तुलनीय, "हमे भावी जाति से यह माग करनी चाहिए कि वह यूरोपीय शक्ति से कार्य करे और एशियाई शान्ति से सोचे।"

१४ डास आफ शिव, पृ० १५२।

१५ वही, पृ० १६५।

१६ किन्तु उन्होने कहा है कि आधुनिक यूरोपीय चिन्तन म पुरानी भावना की ओर लौटने के बहुत से लक्षण मौजूद हैं। नीत्शे में वे 'यूरोप की अन्तरात्मा का पुनर्जागरण' देखते है।

१७ यह मानना होगा कि कुमारस्वामी भारतीय किसान और दस्त कार के दैनिक जीवन म दार्शनिक विचारो के प्रभाव को कभी कभी बढा चढा कर देखत हैं।

१८ भारत म अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव के विषय म टैगोर ने भी ऐसे ही विचार प्रकट किए है।

१९ डास ऑफ शिव पृ० १७०।

२० आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारो म ग्रामोफोन से व जितने रुष्ट है उतने और किसी से नही। सौभाग्यवश तब तक ध्वनिविस्तारको ने ग्रामो फोन की घातक शक्ति का और भी विस्तार नहीं किया था।

२१ उनकी शिकायत है कि इस 'नकली सस्कृति' की जो कीमत हम चुकाते हैं वह "कलात्मक बोध की जड पर कुठाराघात से कम कुछ नही। (आर्ट एण्ड स्वदेशी प० २७)।

२२ आर्ट एण्ड स्वदेशी, प० २।

२३ व चेतावनी देते हैं कि 'मनुष्य और मशीन क बीच प्रतिद्वद्विता सस्कृति का नाश ही कर सकती है।" (आर्ट एण्ड स्वदेशी, पृ० ३४)।

२४ डास आफ शिव, पृ० २१।

२५ वही, पृ० ३८।

२६ वही, पृ० ३७।

२७ वही, पृ० ३८। किन्तु वे यह भी कहते हैं कि यूरोप अभी तक पूरी तरह नही समझ सका है कि वह एशिया का कितना ऋणी है।

२८ हिन्दू और बौद्ध धम के तुलनात्मक अध्ययन म वे भारतीय परम्परा के उन सत्यो को सामने लाते हैं जिनकी सवव्यापी साथकता है (हिंदूइज्म एण्ड बुद्धिज्म, पृ० ४)।

२९ कटम्परेरी इण्डियन फिलासफी (राधाकृष्णन द्वारा सपादित) पृ० १५४।

३० वही, पृ० १५/ ।

३१ वही, पृ० १५८ ।

३२ यह वाक्य डास आफ शिव की भूमिका से है पर यह कथन कुमारस्वामी की अ य कृतिया के लिए भी इतना ही स य है ।

३३ डास आफ शिव, पृ० ३१ ।

३४ वही, पृ० २२ ।

३५ आट एण्ड स्वदेशी, पृ० ३ ।

३६ वही, पृ० ११२ ।

३७ डास ऑफ शिव, पृ० ६४ ।

इकबाल

१

जिन चिंतकों के विचारों का हमने अब तक विवेचन किया है वे सब उस परम्परा के अंग हैं जिसे अत्यंत व्यापक अर्थ में हिंदू कहा जा सकता है। यह उतना इस अर्थ में नहीं कि वे लोग जन्म से हिंदू थे, बल्कि इस अर्थ में कि उनका बौद्धिक तथा भावात्मक लालन पालन—उनके बीच दृष्टिकोण की व्यापक और प्राय मूलभूत भिन्नताओं के बावजूद—उन मूल्यों और अवधारणाओं के आधार पर हुआ था जो हिंदू धर्म की नींव पर भारत में विकसित हुई हैं। किन्तु बहुत से स्थलों पर इस बात का भी संकेत किया जा चुका है कि हिंदू धर्म और इस्लाम की धाराएँ इतने उन्मुक्त रूप में और इतने दीर्घकाल तक परस्पर अन्तर्लीन होती रही हैं कि किसी भी चिंतनधारा को केवल हिंदू धर्म से अनुप्राणित मानना सही न होगा।[1] एक हजार वर्ष से इस्लाम भारतीय चेतना के चिंतन और दृष्टिकोण को प्रभावित करता रहा है—कभी कभी प्रत्यक्ष रूप से पर बहुत बार सूक्ष्म और अप्रत्यक्ष रीतियों से। अर्वाचीन भारतीय चिंतन का कोई अध्ययन तब तक पूर्ण नहीं हो सकता जब तक इस्लामी तत्त्वों पर भी विचार न किया जाए। और यद्यपि मध्य युग में इस्लामी प्रभावों का भारतीय चिंतन के लगभग प्रत्येक क्षेत्र में काफी विस्तार से अध्ययन किया जा चुका है आधुनिक भारतीय चिंतन और संस्कृति में इस्लाम के योग की प्राय उपेक्षा होती रही है।

इसलिए यह उपयुक्त ही है कि अब हम एक ऐसे व्यक्ति के कृतित्व का अध्ययन करें जो इस्लामी परम्परा के कुछेक भव्यतम और सबसे स्थायी पक्षों का प्रतिनिधित्व करता है—ऐसे व्यक्ति के कृतित्व का जिसने न केवल *दार्शनिक गद्य के जटिल माध्यम द्वारा,* बल्कि काव्य के घनिष्ठ और प्रेरणादायक माध्यम द्वारा भी, अपने आपको अभिव्यक्त किया। तो फिर अब हम

इकबाल की ओर मुड़ें जिनके शेरों में रेगिस्तान की स्वास्थ्यप्रद हवा और फारसी गुलाबों के बागीचों की भीनी सुगन्ध है। इकबाल ऐसे कवि दार्शनिक हैं जिनका दर्जा केवल प्यार से ही याद आता है, और जिनके रूपक अपनी सुन्दरता और गहराई तथा शक्ति से हम प्रायः चौंका देते हैं।

यद्यपि इकबाल का महत्व सभी लोग स्वीकार करते हैं फिर भी आधुनिक भारतीय चिन्तन के इतिहास में वे कुछ विवादास्पद व्यक्ति हो गए हैं क्योंकि उनके कृतित्व और दृष्टिकोण के स्रोतों को प्रायः अभारतीय[१] माना जाता है, और क्योंकि उनके परवर्ती लेखन में ऐसी चिन्तन प्रवृत्तियाँ मौजूद हैं जो स्वयं उनके अपने पूर्ववर्ती कृतित्व की सर्वव्यापकता और उदारता से विचित्र रूप में भिन्न जान पड़ती हैं। उनके बारे में असहनशील टिप्पणियाँ की गई हैं और यह भी कहा गया है कि उनका कृतित्व अपनी भावना और प्रभावशीलता दोनों में ही विदेशी है। जब हम इकबाल की रचनाओं पर और अधिक समीप से दृष्टि डालते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ये टिप्पणियाँ जितनी पूर्वग्रहपूर्ण हैं उतनी ही जल्दबाजी में की हुई भी हैं। उनमें बहुत सी इकबाल के चिन्तन की पृष्ठभूमि के विषय में अज्ञान का परिणाम हैं। इस पृष्ठभूमि को अधिक पूर्णता के साथ समझने के लिए आधुनिक भारतीय संस्कृति में इस्लाम के स्थान के सामान्य प्रश्न पर संक्षेप में विचार करना आवश्यक है।

२

जो नया आध्यात्मिक और सांस्कृतिक उभार अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में शुरू हुआ उसकी पहली पंक्ति में हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि थे। कुछ आर्थिक और राजनीतिक कारणों से—जो इतने जटिल हैं कि यहाँ उनका विवेचन उपयुक्त न होगा—कुल मिलाकर मुस्लिम सम्प्रदाय शिक्षा की दृष्टि से पिछड़ा रहा। जब कुछ शताब्दियों बाद नये जागरण में मुस्लिम लोग और आधुनिक संसार के अनुरूप बनाने की इच्छा से भारतीय मुसलमानों में भी हलचल हुई तो उन्होंने इस आकांक्षा को उड़ान अपनी धार्मिक परम्परा के विशेष ढंग से अभिव्यक्त किया। उन परिस्थितियों में यह सर्वथा स्वाभाविक भी था। रवीन्द्रनाथ टगोर ने १९२३ में एकता का रास्ता शीर्षक एक उल्लेखनीय लेख में लिखा था—

जब नवयुग के साथ हिन्दू को अपने हिन्दू धर्म के गौरव का भान हुआ तो यदि तब तक मुसलमान उस चुनाव मान लेता तो वह निःसन्देह हमारे अधिक अनुकूल होता पर वैसे ही कारणों ने उसी प्रकार मुसलमानों के भीतर भी इस्लाम के गौरव का भाव जाग्रत किया।[२] आधुनिक भारतीय नव

दसवा अ याय

इकबाल

१

जिन चिन्तको के विचारो का हमने अब तक विवचन किया है व सब उस परम्परा के अग हैं जिसे अत्य त व्यापक अथ म हि दू कहा जा सकता है। यह उतना इस अथ म नही कि व लोग जम से हि दू थ, बल्कि इस अथ म कि उनका बौद्धिक तथा भावा मक लालन पालन—उनके बीच दृष्टिकोण की व्यापक और प्राय मूलभूत भिन्नताओ के बावजूद—उन मूल्यो और अव धारणाओ के आधार पर हुआ था जो हिन्दू धम की नीव पर भारत म विक सित हुई हैं। किन्तु बहुत से स्थलो पर इस बात का भी सकेत किया जा चुका है कि हिन्दू धम और इस्लाम की धाराएँ इतने उन्मुक्त रूप से और इतने दीघकाल तक परस्पर अन्तर्लीन होती रही हैं कि किसी भी चिन्तनधारा को केवल हि दू धम से अनुप्राणित मानना सही न होगा।[1] एक हजार वष से इस्लाम भारतीय जनता के चिन्तन और दृष्टिकोण को प्रभावित करता रहा है—कभी कभी प्रत्यक्ष रूप से, पर बहुत बार सूक्ष्म और अप्रत्यक्ष रीतियो से। अर्वाचीन भारतीय चिन्तन का कोई अध्ययन तब तक पूर्ण नही हो सकता जब तक इस्लामी तत्त्वो पर भी विचार न किया जाए। और यद्यपि मध्य युग म इस्लामी प्रभावो का भारतीय चिन्तन के लगभग प्रत्येक क्षेत्र म काफी विस्तार स अध्ययन किया जा चुका है, आधुनिक भारतीय चिन्तन और संस्कृति मे इस्लाम के योग की प्राय उपेक्षा होती रही है।

इसलिए यह उपयुक्त ही है कि अब हम एक ऐसे व्यक्ति क कृतित्व का अध्ययन करें जो इस्लामी परम्परा के कुछेक भव्यतम और सवस स्थायी पक्षो का प्रतिनिधित्व करता है—एस व्यक्ति के कृतित्व का जिसने न केवल दार्शनिक गद्य के जटिल माध्यम द्वारा, बल्कि काव्य क घनिष्ठ और प्रेरणा दायक माध्यम द्वारा भी, अपने आपको अभिव्यक्त किया। तो फिर अब हम

हुसन की नोटस आन इस्लाम[१०], और मौलाना अबुल कलाम आजाद[११] के लेखन म इस्लाम क सकारात्मक पक्षो पर ध्यान केंद्रित करने तथा इस्लामी चिन्तन को आधुनिक युग[१२] की आवश्यकताओ के अनुरूप बनाने के बहुमुखी प्रयत्न दिखाई पडते है। व्यक्तिगत लेखको के अलावा अहमदिया[१३] और वहाबी[१४] जसे नय धार्मिक आन्दोलनो के अनुयायी भी थे जिन्होने इस्लाम का साहसपूण और क्रातिकारी ढग स फिर स प्रतिपादन करन का प्रयास किया।

इस्लाम की परम्परागत विरासत की पुन र्व्याख्या की इस प्रवत्ति क साथ साथ सूफी चिन्तन का प्रभाव भी निरन्तर सक्रिय था। इस प्रभाव का विस्तार और कही इतनी तीव्रता स प्रकट नहीं होता जितना प्राचीन उद शायरी क क्षत्र म। आतिश मीर दद और गालिब म हम आत्मसमपण और आत्माग्रह क उस विशिष्ट मिश्रण की झाकियाँ मिलती हैं जो सदा सूफी रहस्यवाद का विशष गुण रहा है। बार बार महान उदू कवियो की पक्तिया म हम सम्प्रदायो की सकीणता से ऊपर उठन का आह्वान सुनाई देता है ताकि एक सवव्यापी धम स्थापित हो सके।[१५] यह सही है कि कभी कभी निराशा और उदासी का वातावरण भी महसूस होता है। पर इस कोटि की शायरी कभी घोर निराशावाद के स्तर तक नही उतरती। वष्णव चिन्तन की भाँति इस्लाम म भी कभी कभी बल मानव जीवन की क्षणभगुरता पर और ईश्वर म स्व क चरम विलय पर दिया जाता है। पर अधिकतर मान्यता मानव व्यक्ति के मूल्य को दी जाती है और स्वय ईश्वर का मानवता के रूप म वणन किया जाता है।[१६]

एसी ही परिस्थितियो म इकबाल का उदय हुआ। उनकी रचनाओ म हम उदार मानववादी प्रवृत्ति तथा सूफी चिन्तन क सकारात्मक आशावादी पक्ष दोनो का सर्वोच्च विकास मिलता है। टगोर की भाँति इकबाल न भी अपनी महान कलात्मक क्षमताओ का उपयोग मूलत आध्यात्मिक और भवि यो मुख विश्वदृष्टि की स्थापना के लिए किया। बाद के वर्षो म व इस्लाम के अधिक सकीण और अनुदार पक्षो की ओर खिच गए। किन्तु इकबाल की इस प्रवृत्ति को उन कारणो से बढा चढाकर दिखाया गया है जिनका दाशनिक क्षेत्र से साधारणत कोई सम्बन्ध नही। कवि के उन राजनीतिक शक्तियो क साथ सम्बन्ध के कारण जो भारत की सास्कृतिक एकता क आदश को अस्वीकार करती थी, दुर्भाग्यवश कुछ आलोचको न इकबाल की कविता के मूलत विश्व प्रेमी स्वर पर भी आक्षप किये हैं।

जागरण में इस्लाम के योग को प्राय इस आधार पर छोटा बताया जाता है कि शिक्षित मुसलमान मुख्यत प्रगतिशील ढग से केवल इस्लामी धमदशन की पुनर्व्याख्या में ही लग रहे। किन्तु इस बात को नही भूलना चाहिए कि राममोहन राय तक ने अपने सुधार आन्दोलन का आधार उपनिषदों को बनाया था। धार्मिक परम्पराओं का यह सहारा अनिवाय था। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कुरान की ओर लौटने और इस्लाम की पिछली सफलताओं के गौरवगान के बावजूद उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकाश मुस्लिम-लेखक सारे भारतवर्ष के पुनरुत्थान के लिए सक्रिय हुए और हिन्दू धम तथा इस्लाम के नये समन्वय द्वारा राष्ट्रीय जीवन और चिंतन के पुनर्निर्माण की कल्पना करने लगे।

नई प्रबुद्धता' के प्रवतक सर सैयद अहमद खा ने अपनी सारी शक्ति भारतीय मुसलमानों के सामाजिक, शैक्षिक और सास्कृतिक स्तर को उठाने में लगाई। उन्हें इस काय में मुस्लिम कट्टरपंथियों के उग्र विरोध का सामना करना पड़ा, ठीक उसी प्रकार जैसे उनसे पहले राममोहन राय को हिन्दू कट्टरपंथियों के विरोध और मतान्धता का सामना करना पड़ा था।[४] उनका उद्देश्य धार्मिक शिक्षा के साथ आधुनिक वैज्ञानिक अध्ययन को शामिल करना था। उनका दृष्टिकोण तकनावादी था और वे धम के चमत्कारक तत्त्व को त्यागने का आग्रह करते थे।[५] यद्यपि यह सही है कि वे मुख्यत मुसलमानों की ओर उन्मुख रहे फिर भी मुसलमानों के लिए पृथक राष्ट्रीय सस्कृति की अवधारणा से उनके विचार कोसों दूर थे। वे मुसलमानों से अच्छे भारतीय बनने का ही आग्रह करते थे। वे उनसे बार बार पूछते थे—'क्या तुम एक ही देश में नहीं रहते ?

सर सैयद अहमद के तात्कालिक अनुयाइयों में ऐसे बहुत से लोग थे जिन्हें सच्चा प्रगतिशील कहा जा सकता है। यूसुफअली की पुस्तक द रिलीजस पालिटी आफ इस्लाम में हमें इतिहास के प्रति पूर्णत वस्तुनिष्ठ और तकनावादी ध्यान मिलता है।[६] साहित्यिक और ऐतिहासिक आलोचना के क्षेत्र में, शिबली के लेखन में भी वही सहिष्णुता की भावना मौजूद है। और यह मानना भी भूल होगा कि मुस्लिम प्रबुद्धता सर सैयद अहमद तथा तात्कालिक अनुयाइयों के युग तक ही सीमित थी। सर सैयद अहमद से लगाकर आज तक ऐसे लेखकों की एक लम्बी पंक्ति है जो निरन्तर उदारतावाद और मानवतावाद का समथन करते रहे हैं। ऐसी पुस्तकों में, जैसे खुदाबख्श की ऐसेज इण्डियन एण्ड इस्लामिक,[७] अमीर अली की द स्पिरिट आफ इस्लाम[८], दुरानी की द ग्रेट प्राफेट[९], अहमद

इकबाल ने फारसी और उर्दू दोनों में लिखा, पर गालिब की भांति उनकी ख्याति अंततः उर्दू कविता पर ही आधारित है।

इकबाल यद्यपि मुख्यतः शायर के रूप में ही विख्यात रहे, फिर भी उन्होंने अपना गम्भीर दार्शनिक अध्ययन कभी न छोड़ा। उन्हें आक्सफोर्ड में व्याख्यानमाला के लिए आमंत्रित किया गया जो बाद में रिकन्सट्रक्शन आफ फिलासफी इन इस्लाम शीर्षक से पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। बाद के वर्षों में उन्होंने राजनीति में भी कुछ भाग लिया। १९३८ में उनका देहांत हो गया।

इकबाल के चिंतन को जिन प्रभावों ने ढाला है उनका दोटूक विश्लेषण कठिन है। उनका प्रबन्ध डेवलपमेंट आफ मेटाफिजिक्स इन पर्शिया सूफी चिंतन के गहरे अध्ययन को सूचित करता है। उन्होंने इब्नुल अरबी और अल्जिल्ली के ग्रन्थों का बड़ी सावधानी से अध्ययन किया था। किन्तु अपने कवि स्वभाव के कारण वे रूमी के अधिक समीप आये, जिनकी रचनाओं में सूफी परम्परा में जो कुछ उत्कृष्ट है उसकी अभिव्यक्ति मिली है। रूमी की मसनवी में ऐसे बहुत से विचार हैं जिन्होंने इकबाल के संवेदनशील मन को आकर्षित किया—बौद्धिक ज्ञान से प्रेम की श्रेष्ठता का विचार जागतिक विकास और परिवर्तन का विचार स्वतन्त्रता का और सबसे अधिक सम्पूर्ण मनुष्य का विचार। यह याद रखना महत्त्वपूर्ण है कि इकबाल की भांति रूमी भी ऐसे युग में हुए थे जिसमें बहुत-सी परस्पर विरोधी विचारधाराएँ इस्लामी दुनिया में प्रवाहित हो रही थीं। इकबाल की नज़्म जावदनामा रूमी के प्रभाव की मुखर साक्षी है। इकबाल प्रायः रूमी के छन्द का प्रयोग करते हैं और कभी कभी हम उन्हें अनजाने ही फारसी महाकवि के लयात्मक प्रभावों का भी अनुकरण करते पाते हैं।[२१]

यूरोपीय लेखकों में बर्गसाँ और नीत्शे ने उन्हें सबसे अधिक प्रभावित किया। बाले जिब्रील नामक कविता संग्रह में बर्गसाँ का परिवर्तन का दर्शन स्पष्टतः प्रतिबिम्बित है और पयाए वक्त कविता में अवधि के सिद्धान्त की स्पष्ट प्रतिध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं।[२२] किन्तु नीत्शे का प्रभाव अधिक गहरा है। उसके संकल्पवाद के अतिरिक्त, नीत्शे के अति मानव के दर्शन ने इकबाल को बहुत मुग्ध किया, यद्यपि वे इस विचार पर अरब दार्शनिकों के अध्ययन द्वारा भी पहुँच चुके थे। जागरणशील एशिया के बहुत से प्रतिनिधियों की भांति इकबाल शक्ति और बल के सम्प्रदाय की ओर आकर्षित हुए थे। उन्हें लगता था कि पूर्व संकल्प का उपाय के कारण ही परेशान रहा है। इकबाल

३

मुहम्मद इकबाल का जन्म १८७६ में स्यालकोट के एक मध्यवित्त परिवार मे हुआ था। उनके पिता पहले सरकारी नौकरी मे थे, पर बाद म व्यापार करने लगे और उसमे भी सफल हुए। वे धार्मिक तथा कट्टरपन्थी थे, पर उनमे ऐसी स्पष्ट रहस्यवादी प्रवृत्तिया थी जो उन्हे प्राय सम्प्रदायगत धर्म की सीमा से बाहर ले जाती थी। इकबाल की शिक्षा स्यालकोट और लाहौर मे हुई। वे एक मेधावी छात्र थे और दर्शन म एम० ए० करने के बाद कुछ दिनो तक कालेज में प्राध्यापक भी रहे। साथ ही वे शायरी भी करते रहे थे और बहुत लोकप्रिय हो गए थे। उनकी पहली कविता परम्परागत थी।[१९] पर शीघ्र ही वे देशभक्ति से प्रेरित हुए और उन्होने भारतीय एकता और स्वातन्त्रता पर हृदयस्पर्शी कविताएँ लिखी।

१९०५ मे इकबाल यूरोप गये। केम्ब्रिज म उन्होने ब्रितानी दार्शनिक चिन्तक, विशेषकर मैक्टेगट[१८] और व्हाइट[१९] का बडा गहन अध्ययन किया। कुछ समय बाद वे जर्मनी गये। म्यूनिक विश्वविद्यालय म उन्होने फारसी तत्त्व मीमासा पर पी एच० डी० के लिए प्रबन्ध प्रस्तुत किया। इकबाल ने जर्मन भाषा पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया और वर्षों तक वे प्राचीन जर्मन दर्शन और साहित्य के सर्वोत्कृष्ट अश के अध्ययन म डूबे रहे।[२०] जैसा कि हम शीघ्र ही देखेंगे, नीत्शे ने उनके विचारो पर गहरा प्रभाव डाला।

इकबाल यूरोपीय जीवन की प्राणवत्ता और गतिशीलता से बहुत प्रभावित हुए, और कुछ समय तक वे क्रान्तिकारी राजनीतिक चिन्तन की ओर भी आकर्षित हुए थे। उनके मन मे उन विराट सम्भावनाओ का स्वप्न था जो मानव जाति के आगे खुली पडी थी, और वे एशिया की भौतिक दरिद्रता और सास्कृतिक पिछडेपन से बडे उदास होते थे। किन्तु बाद मे जब उनका दृष्टिकोण इस्लाम की धार्मिक भावना से अधिकाधिक रगता गया, वे यूरोपीय सभ्यता के यान्त्रिकतापरक और उपयोगितावादी पक्षो के आलोचक हो गए। यह ध्यान देने योग्य है कि इस बात मे उनका विकास टगोर के समानान्तर ही था।

१९०८ म इकबाल लाहौर लौट आये और बैरिस्टर के रूप म वकालत करने लगे। इस बीच उनका कुछ श्रेष्ठतम काव्य प्रकाशित हो चुका था। अगले बीस वर्षों मे आधुनिक उर्दू काव्य के महानतम व्यक्तित्व के रूप म उनकी स्थिति और भी सुदृढ हो गई। उनकी रचना इसरारे खुदी को आधुनिक भारतीय काव्य की इनी गिनी सच्ची दार्शनिक रचनाओ म से एक माना जाएगा।

अच्छी नहीं होती। इस्लाम के अंतर्गत प्रदेश की सभ्यता और संस्कृति में ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जो एक दूसरे से भिन्न हैं। भारत की भाँति ही मध्यपूर्व में भी सहिष्णुता और प्रगतिशील चिंतन को उदारतापूर्वक आत्मसात करने के युगों के बाद कभी कभी ऐसे युग आए हैं जिनमें धर्म का संकीर्णतापूर्ण पालन बाकी हर बात से अधिक महत्त्व का माना गया। इकबाल यह भली भाँति समझते थे और इस्लाम की विरासत की विवेकपूर्ण स्वीकृति की माँग करते थे।

यह आरोप लगाया गया है कि इकबाल सर्व इस्लामवादी थे और इसलिए उनका चिंतन इस अर्थ में अभारतीय था कि उनकी प्रेरणा का एकमात्र स्रोत भिन्न प्रदेश की संस्कृति में था। यह मानना पड़ेगा कि उनके कुछ कथन ऐसे हैं जिनमें वे सर्व इस्लामवाद के समर्थक जान पड़ते हैं। एक व्याख्यान में उन्होंने कहा था कि 'मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं सर्व इस्लामवादी हूँ। जिस उद्देश्य से इस्लाम इस दुनिया में प्रकट हुआ वह अंततः पूरा होगा ही। संसार से अनास्था और झूठे देवताओं की पूजा का अंत हो जाएगा।'[29] पर ऐसे वक्तव्य बहुत कम हैं, और यहाँ अनास्था और झूठे देवता जैसे शब्दों का विशेष धर्मों के अनुयायियों के पूजा के रूपों का सूचक न समझना चाहिए। ऐसी शब्दावली प्रत्येक युग में कवियों द्वारा उस सबको सूचित करने के लिए प्रयुक्त हुई है जो सर्वव्यापी अर्थ में सत्य के विपरीत है। यदि सर्व इस्लामवाद का अर्थ यह विश्वास है कि इस्लाम के मूलभूत मूल्यों की सचाई सर्वव्यापी है तो उसमें कोई बुराई की बात नहीं। इकबाल बड़ी दृढ़ता से इस बात में ठीक उसी प्रकार विश्वास करते थे जिस प्रकार विवेकानंद इस बात में कि वेदांत ही सर्वव्यापी धर्म है और सारे संसार को जल्दी या देर से वेदांत के पास ही आना पड़ेगा।[30]

इस बात का अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इकबाल विशेषकर बाद के वर्षों में उस चिंतन और संस्कृति के प्रति अपने ऋण को कम आँकने लगे थे जो उनकी जन्मभूमि में शताब्दियों से विकसित होती रही थी। उनके कुछेक वक्तव्य यह धारणा मन पर छोड़ते हैं कि इस्लाम की भावना से एक होने के प्रयास में वे अपनी बौद्धिक वंशपरम्परा को भुलाए दे रहे हैं जो यदि अपने आध्यात्मिक पक्ष में इस्लामी था तो अपने बौद्धिक और सौन्दर्यमूलक पक्षों में भारतीय भी थी। पर यह न्यायोचित न होगा कि केवल ऐसे ही वक्तव्यों को चुन लिया जाए और उनकी उपेक्षा कर दी जाए जिनमें भारतीय संस्कृति से उनका प्रेम असंदिग्ध रूप में अभिव्यक्त हुआ है। यह महत्त्वपूर्ण है कि उनका प्रभाव केवल भारत में ही पड़ा। सर्व इस्लामवाद की ओर झुक जाने के बाद

ने अपनी बहुत सी कविताओं म नीत्शे का नाम लिया है। इस स्पेक जरथुष्ट्र की कुछ नीति कथाएँ इकबाल की कविताओं मे स्थान पा गई ह। इकबाल ने नीत्शे म अन्य जीवन का पगम्बर देखा। नीत्शे को श्रद्धाजलि अर्पित करत हुए इकबाल लिखत हैं— 'चरम काय बौद्धिक काय नही बल्कि प्राणमूलक काय है जो अह के समस्त अस्तित्व को गहरा बनाता है और सकल्प को इस आश्वासन से प्रखर करता है कि दुनिया अवधारणाओं द्वारा केवल देखने या जानने की वस्तु नही है बल्कि बनाने और फिर बनाने की वस्तु है।"[२३]

स्वय कुरान इकबाल के चिन्तन का एक अधिकतम महत्त्व का स्रोत है। जिस प्रकार अरविन्द हिन्दू चिंतन और सस्कृति क मूल स्रोत के रूप म वेदो को लौटने की माँग करते हैं उसी प्रकार इकबाल कुरान को लौटने की। दोनो ही म परवर्ती व्याख्याओं और जडा भूतपर्तो से बच निकलने की इच्छा और धमग्रन्थ के मूल रूप को पहचानने की लालसा दिखाई पडती है। किन्तु इकबाल कुरान का पूणत स्त्र सम्पूण नही मानते और न वे मुस्लिम चिंतन के परवर्ती विकास का पहल ही प्राप्त पूणता के स्तर से नीचे गिरना समझते हैं। इस्लामी धमदशन का उनका विवेचन न तो शास्त्रीय है न अनुनयात्मक। कभी कभी उनक कथन कट्टरपथी इस्लाम की दृष्टि से निश्चित रूप से अननुवर्ती हैं। उनकी तत्वमीमासा विषयक व्याख्याओं म उनकी इस्लाम की व्याख्याओं का उल्लेख करत हुए गिब कहत हैं—' वास्तव म यदि भारतीय इस्लाम म कवि और नेता के रूप मे इकबाल की प्रतिष्ठा न होती तो इसम स देह है कि ऐसा क्रान्तिकारी और धम विरोधी ग्रन्थ कभी भी प्रकाशित हो पाता।'[२४] इस बात से कि बाद के वर्षों म व इम मामल म पुराणपथी हो गए थे हम उनके अननुवर्ती दृष्टिकोण को कम नही आकना चाहिए। उनक उग्रवाद की मात्रा का निणय इस्लामी जगत म उस समय मौजूद स्थिति के सन्दभ म ही होना चाहिए। इतने सीधे कथन न भी कि स्वग और नरक कोई स्थान नही बल्कि आत्मा की अवस्थाएँ हैं बहुत से कट्टरपथियो को रुष्ट कर दिया था।

इकबाल प्राय इस्लाम म परम्परा के प्रतिनिधि के रूप म बात करत ह। पर इसने उन्ह यह घोषित करने स नही रोका कि सत्य क हित म परम्परा के विरुद्ध सघष करना भी आवश्यक हो सकता है चाह फिर वह परम्परा धार्मिक आदेश द्वारा ही प्रतिष्ठित क्या न हो। एक प्रसिद्ध फारसी शेर म व कहते हैं—' यदि बिना शत परम्परा का पालन ही सबस बडा गुण होता तो स्वय पैगम्बर भी नए रास्ता पर न चल सके होत।'[२५] इसक अतिरिक्त प्रत्यक सभ्यता म कुछ अच्छी परम्पराएँ विकसित होती हैं और कुछ एसी जो उतनी

सत्ता की व्याख्या सौंदर्य के बजाय संकल्प के रूप में करने लगे तथा और भी बाद में परिवर्तन—यांत्रिक नहीं उद्देश्यपरक परिवर्तन—के विचार ने उनके चिंतन को एक नई महत्त्वपूर्ण दिशा दी।[31]

किन्तु यद्यपि बल के य अन्तर निस्सन्देह इकबाल के चिन्तन के विभिन्न कालों में देखे जा सकते हैं, फिर भी कुल मिलाकर उनका दर्शन 'खुदी' (आत्मा) पर केन्द्रित है। वे चरम सत्ता एवं 'सक्रिय मैं' को मानते हैं। इस प्रश्न पर उनके कथनों में फिक्टे का प्रभाव तथा और भी अधिक व्यापक रूप में, मक्टेगट का प्रभाव दिखाई पड़ता है। मैक्टेगट के दर्शन पर एक लेख में इकबाल लिखते हैं—'मक्टेगट निरपेक्ष पर द्वन्द्वात्मक पद्धति से पहुँचते हैं। पर वे निरपेक्ष पर ही नहीं रुक जाते। उनके अनुसार निरपेक्ष अपने आपको मूर्त अहं में और भी विभिन्नीकृत करता है। जगत् भ्रम नहीं है, वह यथार्थ आत्माओं की व्यवस्था है जिन्हें निरपेक्ष का गुण या विशेषण मात्र नहीं माना जा सकता।'[32] इसरारे खुदी की कुछ महत्त्वपूर्ण पंक्तियों का सार इस भाँति व्यक्त किया जा सकता है—'आत्मा के बिना कोई अस्तित्व नहीं अस्तित्व आत्मा का प्रभाव है। जो कुछ हम देखते हैं वह आत्मा की छिपी शक्तियों की अभिव्यक्ति है। जाग्रत होने पर आत्मा अवधारणाओं का लोक उद्घाटित करती है। सो विश्व उसके भीतर छिपे पड़े हैं। उसकी आत्म पुष्टि से अनात्म का उदय होता है।'[33]

इसस ईश्वर के प्रति वैयक्तिक पहुँच का रास्ता खुल जाता है। इकबाल कहते हैं कि चरम सत्ता 'जीवन की अनुभूति के सर्वोच्च अर्थ में एक व्यक्ति है। हम समन्वित सम्पूर्णता के अतिरिक्त उसकी कल्पना नहीं कर सकते, जो घनिष्ठ रूप से संघटित और एक केन्द्रीय स्पंदन बिंदु से युक्त' है।[34] अवतारवाद के आरोप का खण्डन करते हुए वे कहते हैं—'चरम सत्ता को पूर्वक निर्देशित सर्जनात्मक जीवन है। इस जीवन का व्यक्तित्व के रूप में व्याख्या करना ईश्वर को मनुष्य की आकृति में ढालना नहीं है। यह तो केवल अनुभव के इस सीधे तथ्य को स्वीकार करना भी है कि जीवन कोई निराकार द्रव नहीं बल्कि एकता का संगठनकारी तत्त्व है—एक संश्लेषणात्मक क्रिया है जो जीवंत शरीर के बिखरते या स्वभाव को एक सर्जनात्मक उद्देश्य में संघटित रखती और संकेंद्रित करती है।'[35]

चरम सत्ता और ससीम व्यक्तियों में वास्तविक आत्मत्व मानने के कारण इकबाल को दार्शनिक सत्य और धार्मिक सम्पूर्णता में सामंजस्य स्थापित करने की चिरन्तन समस्या का सामना करना पड़ता है। मनुष्य के भीतर शिव की भावना उसे असीम के साथ संयोग की ओर प्रेरित करती है और यह

भी दुनिया उन्हें भारतीय चिंतन का ही प्रतिनिधि मानती रही, इस्लामी चिंतन का नही।[२८]

इकबाल के प्रकृति काव्य में हम उनके भारत के प्रति प्रेम की बहुत सी झलकियाँ मिलती हैं। उनकी रगों मे कश्मीरी रक्त था और उनके पूर्वज संस्कृत परम्परा के प्रशंसक रह थे। उनकी बहुत सी कविताओं में हिमालय में, हिंदुस्तान के हरे भरे मैदानो और चौडी नदियों मे ऐसा लगाव और प्यार दिखाई पडता है जो कालिदास की याद दिलाता है। विशुद्ध दार्शनिक स्तर पर इकबाल की काव्य चेतना पर वेदान्त का अचेतन प्रभाव दिखाना कठिन नही होगा।[३०] उनके देशभक्तिपूर्ण गीतो का पहले ही उल्लेख हो चुका है जिनमें से कुछ तो आज भी करोडों भारतीयों की जबान पर हैं। अपनी अन्तिम महत्त्वपूर्ण फारसी नज्म मे इकबाल उन आन्तरिक मतभेदों के लिए दुःख प्रकट करते हैं जो इतिहास मे इतनी बार भारत के पतन के कारण रहे हैं। इन सबको देखते हुए इकबाल के चिन्तन को अभारतीय घोषित कर देना कठिन जान पडता है।

६

इकबाल का दर्शन सर्वत मूल्यवादी और मानवकेन्द्री है। उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण दार्शनिक नज्म इसरारे खुदी है जिसका अंग्रेजी में भी अनुवाद हो चुका है। उनके तत्त्वमीमांसा सम्बन्धी व्याख्यानो में भी आत्मा की अवधारणा का केन्द्रीय स्थान है। और यही प्राथमिकता उनके प्राचीन अरब चिंतन के ऐतिहासिक और आलोचनात्मक अध्ययन में भी दिखाई पडती है। इसका यह अर्थ नहीं कि ईश्वर के चरमसत्ता के स्वरूप से कवि को कोई मतलब ही नहीं। यह सचमुच ही बडे आश्चर्य की बात होती कि इकबाल जैसा गहरे धार्मिक दृष्टिकोण वाला व्यक्ति ऐसा दर्शन रचे जिसमें ईश्वर को कोई स्थान न हो। पर यह आग्रहपूर्वक कहा जा सकता है कि इकबाल के दर्शन की विशिष्टता उसकी भावना और उसका वातावरण ईश्वर विषयक विवेचन में नहीं, बल्कि सत्ता की मानव-संकल्प और कर्म के रूप में व्याख्या द्वारा निर्धारित होता है।

अपने यौवन और स्वच्छन्दतावादी काल में इकबाल ईश्वर को चरम सौन्दर्य और सम्पूर्णता के रूप में देखते थे। इस काल में उनके ईश्वर विषयक कथनों में एक सुस्पष्ट अफलातूनी रुझान मौजूद है—और इसमें कोई अचरज की बात भी नहीं क्योंकि प्राचीन अरब चिन्तन में जिसका उनके विचारों पर तब तक प्रधान प्रभाव था, बहुत-कुछ तत्त्व अफलातूनी है। बाद में इकबाल

इस खुदी में ही संसार नींद से जागता है।[४२] हम मानव आत्माएँ ही प्रकृति को बनाने वाली हैं। अपनी कविता जुबूरे आजम में इकबाल काण्ट का यह विचार रखते हैं कि आत्मा ही प्रकृति में व्यवस्था उत्पन्न करती है। कभी कभी बर्कले की सी शब्दावली में वे कहते हैं—"प्रत्येक अस्तित्व हमारे ज्ञान पर निर्भर है। संसार हमारी प्रतिभा की अभिव्यक्ति है। हमारे बिना न प्रकाश का कोई वास्तविक अस्तित्व है न ध्वनि का।"[४३] वे देश और काल को बोध के तत्त्व मानते हैं। एक कल्पनाप्रधान मनोदशा में वे प्रकृति और सुन्दरता को मनुष्य के प्रति ईर्ष्या से पीडित बताते हैं। 'जब एक भावनाशील हृदय का उदय हुआ, एक द्रष्टा पैदा हुआ तो सुन्दरता काँप उठी। प्रकृति ने जब देखा कि मिट्टी में से अपने आपको बनानेवाला, एक आलोचक पैदा हुआ तो वह चिन्तित हो उठी।"[४४] प्रकृति से मानव जीवन की ओर मुडते हुए इकबाल कहते हैं कि 'आत्म की भलाई ही मूल्य की एकमात्र कसौटी है। संगीत कविता, धर्म राजनीति, कला—इन सबका मूल्य तभी है जब वे आत्मा का सबल बनायें।[४५] उपनिषदों की भाँति वे कहते हैं कि आत्मा के लिए ही सब वस्तुएँ इतनी प्यारी लगती हैं।

दृश्य जगत में मनुष्य के गौरवगान से ही सन्तुष्ट न होकर कवि स्वयं ईश्वर को चुनौती देता है। वह कहता है—

"या तो खुद अशकार हो या मुझे अशकार कर"[४६]

परम आत्मविश्वास के स्वर में कवि 'ईश्वर और मनुष्य के बीच एक वार्तालाप अंकित करता है जिसमें यह दिखाया गया है कि मनुष्य ईश्वर की बनाई हुई दुनिया से असन्तुष्ट होकर उसे सुधारने का प्रयास करता है।

ईश्वर ने कहा—'मैंने सारी दुनिया को एक ही मिट्टी और पानी से बनाया था तुमने उसे भौगोलिक इकाइयों में बाँट लिया। मैंने लोहा बनाया तुमने उससे तलवार और तीर बना डाले। मैंने जंगल बनाया तुमने उसे काटने को कुल्हाडी बना ली। मैंने पक्षी बनाए तुमने उन्हें पिंजड़ों में बन्द कर डाला।

मनुष्य ने उत्तर दिया—तुमने रात बनाई मैंने दीपक तुमने मिट्टी बनाई मैंने सुराही तुमने रेगिस्तान बनाया, मैंने बाग तुमने पत्थर मैंने दर्पण तुमने जहर बनाया, मैंने उसका उतार।'

ईश्वर ने कहा—'दुनिया ऐसी ही है और सवाल मत उठाओ।'

मनुष्य ने उत्तर दिया—'वह है ऐसी पर उसे ऐसी नहीं, वैसी होना चाहिए'[४७]

सूफी तथा वैष्णव दोनों ही परम्पराओं में कवि इसे अपना अधिकार

बहुत से अर्वाचियों को 'विघटन का, फ़ना का, विनाश का, निर्वाण का आदर्श स्वीकार करने के लिए ललचाता है। किंतु रहस्यवाद के इतिहास में 'सिद्धि' की अवस्था में भी ससीम की सत्ता पर आग्रह के भी बहुत से साहसपूर्ण प्रयास मिलते हैं।[36] इब्न अल अरबी ने फना की व्याख्या व्यक्तित्व के विघटन की बजाय असीम के साथ अपनी मूलभूत एकता की चेतना के रूप में की है।[37] इकबाल भी मूलत यही स्थिति अपनाते हैं। वे असीम की प्राप्ति और अपने व्यक्तित्व को बनाए रखने में कोई अन्तर्विरोध नहीं मानते। सच्ची असीमता का अर्थ असीम विस्तार नहीं (जिसकी धारणा केवल समस्त उपलब्ध विस्तारों का ग्रहण करके ही की जा सकती है)। उसका स्वरूप सघनता में है, विस्तार में नहीं। और ज्योंही हम अपनी दृष्टि सघनता पर जमाते हैं वैसे ही हम यह देखने लगते हैं कि ससीम अहं असीम से विलग न होने पर भी उससे भिन्न होता है।[38]

इन सब बातों में—वैयक्तिक' सत्ता की मान्यता, सघनता, आन्तरिकता और आत्मत्व पर बल ससीम व्यक्तियों के क्षेत्र में विशिष्टता और विविधता की स्वीकृति—टैगोर और इकबाल के विचारों में बड़ी भारी समानता है।[39] यह महत्त्वपूर्ण है कि आधुनिक भारत के दो कवि दार्शनिकों ने सत्य और मानव जीवन को मूलत एक ही दृष्टिकोण में देखा है। इस दृष्टिकोण को व्यापकतम अर्थ में मानववादी कहा जा सकता है। टैगोर की भाँति इकबाल में भी आधारभूत दार्शनिक मान्यताओं को एक मानववादी विश्वदृष्टि के भीतर गूँथा और विकसित किया गया है। और दोनों में ही इसने दार्शनिक मान्यताओं की अभिव्यक्ति को समृद्धता और जीवन्तता प्रदान की है।

इकबाल मानव आत्मा को सक्रिय, गतिशील सृजनात्मक और स्वतन्त्र मानते हैं। इन गुणों के कारण ही वे मानव का गौरवगान करते हैं। कुरान को अपने समर्थन में उद्धृत करते हुए वे कहते हैं— कुरान मानव अहं की स्वतन्त्रता की शिक्षा देता है आदिम प्रवृत्तिमूलक क्षुधा के स्तर में स्वतन्त्र आत्मा की सचेत प्राप्ति के स्तर तक मानव के पतन की नीतिकथा चुनाव के लिए स्वतन्त्र ससीम अहं के उदय को सूचित करता है ईश्वर का यह खतरा मोल लेना उसकी मनुष्य में अत्यधिक आस्था का सूचक है। अब इस आस्था के अनुरूप सिद्ध होना मनुष्य के ऊपर है।'[40] ईश्वर का यह 'खतरा उठाना निरी साहसिकता के कारण नहीं है। इकबाल का विश्वास है कि ईश्वर के मूलमन स्वरूप की परिपूर्णता के लिए ही मानव आत्मा की 'रचना आवश्यक है—

"तामीरे ख़ुदी में है ख़ुदाई"[41]

बढ़ते हुए जगत् के लिए इस मोह के कारण इकबाल काल को सत्ता का केंद्र मानते हैं। हमारे युग के किसी अन्य भारतीय चिंतक ने काल की समस्या पर इतना ध्यान नहीं दिया है जितना इकबाल ने। इसका कुछ तो कारण यह है कि इस्लाम के प्राचीन दर्शन में प्रारम्भिक फारसी दार्शनिकों द्वारा काल के विषय में प्रस्तुत विचारों का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान था। जावां और मानी के काल के रहस्य विषयक चिंतन को कट्टर इस्लाम के ढाँचे में बैठा लेने का प्रयास किया गया। इस परम्परा के आधार पर, और सापेक्षता तथा जागतिक विकास के आधुनिक विचारों का सहारा लेकर इकबाल अस्तित्व मात्र को काल केंद्री मानते हैं।

उनकी एक कविता में काल स्वयं प्रकट होकर भाषण देता है। अपने जावेद नामा में इकबाल यह विचार रखते हैं कि चूँकि सत्ता गतिशील है, इसलिए काल का स्वयं अस्तित्व का एक अगभूत तत्त्व मानना चाहिए। नियति के विषय में वे कुरान की व्याख्या इसी विचार के आधार पर करते हैं। कार्य कारण क्रम से मुक्त काल (अर्थात् सम्भावनाओं के प्रकट होने से पहले का काल) ही नियति है।[४३] मनुष्य की भूल क्रमबद्ध काल को चरम काल मानने में है। 'सत्ता के जीवन का हर क्षण मौलिक है और वह जो कुछ उत्पन्न करता है वह सर्वथा नवीन और अप्रत्याशित होता है। वास्तविक काल में अस्तित्व होना क्रमबद्ध काल के बंधनों में बँधा होना नहीं, बल्कि हर क्षण में उसका सृजन करते रहना है। जीवन काल में स्वतन्त्र सृजनात्मक क्षण है।'[४४]

इस भाँति इकबाल के दर्शन में जितना गति पर बल है उतना ही सृजनात्मकता पर भी है। अवश्य ही इसमें बर्गसां का प्रभाव सुस्पष्ट है। पर ग्यारहवीं शताब्दी के अरब दार्शनिक इब्न मस्कव[४५] का प्रभाव भी किसी तरह कम नहीं है जिसने जगत के विकास की ऊपरी तौर पर यान्त्रिकतापरक दिशा से उसके उद्देश्यपरक स्वरूप की भिन्नता दिखाई। इकबाल के लिए परिवर्तन भविष्योन्मुख है इसीलिए वे नीत्शे की चिरंतन पुनरावृत्ति को अस्वीकार करते हैं जो अस्तित्व की धारा के निरंतर 'पीछे लौटने' और 'उलटने' के विचार पर आधारित है। इसी प्रकार इकबाल के लिए वृद्धि हेतुपरक है इसीलिए वे बर्गसां के दर्शन को पूरी तरह स्वीकार नहीं करते— बर्गसां सृजनात्मकता तो स्वीकार करते हैं पर हेतु नहीं।

इकबाल की बहुत सी कविताओं में यह सृजनात्मक रूपांतर का दर्शन सशक्त रूप में अभिव्यक्त हुआ है। कवि मानवता को निरंतर चलने, उच्च से उच्चतर उठने के लिए आह्वान करता है—

मानते रहे हैं कि ईश्वर का न केवल श्रद्धा और प्रेम से सम्बोधन करें, बल्कि कभी कभी खिलवाड़ करते हुए व्यंग्य, शिकायत, बल्कि दोषारोपण के भाव से भी। यह भाव हमें इक़बाल की बहुत सी पंक्तियों में भी मिलता है। मनुष्य ईश्वर से कहता है— यह सब कठोर परिश्रम बहुत हुआ। सृष्टि रचना के काम ने तुम्हें थका दिया होगा। अब मेरे दिल में आकर कुछ विश्राम करो। अकेले अकेले पवित्र बने रहने की अपेक्षा मेरे जैसा बन्धु पास होना कहीं अच्छा है।"[४८] ईश्वर की सृष्टि की दुर्बलताओं पर कवि का व्यंग्य और तीखा है। "सितारों का रास्ता टेढ़ा मेढ़ा है, पर मुझे उससे क्या! आखिरकार यह आसमान है किसका—तुम्हारा या मेरा? मैं क्या इस जगत् के बारे में परेशान होऊँ? मालिक तो तुम्हीं हो।"[४९] कवि ईश्वर पर कंजूस होने का दोष लगाता है— "अपने लिए ला मकाँ, मेरे लिए चारसू।"[५०] और उसमें यह कहने का साहस है—

"हूरो-फ़रिश्ता हैं असीर मेरे तसव्वुरात में।
मेरी निगाह से खलल तेरी तजल्लियात में।"[५१]

५

अपनी उच्च स्थिति की यह चेतना मनुष्य को अपने जीवन में गतिशीलता का भाव प्रदान करती है। वह अपनी गति को सारे ब्रह्माण्ड पर आरोपित करता है। वह सब जगह परिवर्तन और रूपान्तर देखता है। इस भाँति इक़बाल का मानववाद उनके परिवर्तन के दर्शन से जुड़ा हुआ है। मानव की महानता अपनी अभिव्यक्ति के क्षेत्र के लिए ऐसे जगत की माँग करती है जो स्थिर या बन्द न हो बल्कि चक्री मंच की भाँति अनन्त सम्भावनाएँ प्रस्तुत करता हो। इक़बाल और टैगोर दोनों ही गति के कवि हैं, किन्तु जहाँ टैगोर की बलाका में परिवर्तन के तल में वर्तमान स्थिरता की झलक बीच-बीच में मिलती है, वहाँ इक़बाल का बाँगेदरा शुरू से आखिर तक गति की स्तुति है

"फ़रेबे नज़र हैं सुकूनो सबात
तड़पता है हर ज़र्रा-ए-कायनात
ठहरता नहीं कारवाने वजूद
कि हर लहज़ा है ताज़ा शाने वजूद
समझता है तू राज़ है ज़िन्दगी
फ़क़त ज़ौक़े-परवाज़ है ज़िन्दगी
बहुत इसने देखे हैं पस्तो बलन्द
सफ़र इसको मंज़िल से बढ़कर पसन्द"[५२]

द्वारा कम करते हुए भी पाते हैं। इस भांति नर्ग
है सकल्प की अभिव्यक्ति सुदर व चितन
तकना का अहकार रहस्यवादी अतदृष्टि की
होता है।

इस गतिशील विश्वदृष्टि म, आ म क
प्रतिक्रियावादी रुझान म इकबाल और टगोर के
पर एक विशेष मामले म इकबाल और विवक
उतनी ही अपूर्व है। विवेकान द का भी दावित
जाता है। इकबाल की भांति हा विवेकानद न
तकनावाद की दृष्टि से धम की फिर म व्याख्या
और दोनो म ही हम विज्ञान के फल शक्ति व
रहस्यदृष्टि के साथ मिलान की उत्कृष्ट इच्छा
इकबाल के दशन के इस पक्ष का उल्ल
का कहना है— जीवन के मागदशक के रूप म
तरव और प्रेम का स्वीकार करके इकबाल
(तरीका) के सच्चे अनुयायी सिद्ध करते है।'
नहीं है कि इकबाल बुद्धि को अस्वीकार करत
बहुत प्रबल है जो उन्ह जीवन और उसकी समस्या
कोण को अस्वीकार क ने को प्रेरित करता है।[६]
प्रवृत्ति बार बार उन्ह तकमूलक बुद्धि के क्षय
म उ ह्लतापूवक यह मानने जाने पडते हैं कि स य
है उसे बुद्धि द्वारा नहीं जाना जाता। एक प्रशि
इच्छा का आविन रखा। इच्छा के बिना नारी
इच्छा, अफलातून के ईरोस की भांति तकना के
ही वस्तुत है। हम ऐसी पक्तियाँ भी मिलती हैं जिन
के रूढ़िमुक्त—कट्टरपथी दृष्टि म रूढ़िमुक्त—रूप
इस भांति कवि कहता है—

> "धम के नियम के सभी रहस्य मैं खोल ए
> उनका सार यह है कि काफिर यह है
> जो प्रेम को अस्वीकार करता है।"[६४]

और प्रेम की मुक्तिदायी शक्ति म यह आ
प्रति एक सौंदयपरक दृष्टि की ओर ले जाती

"तू ऐ मुर्गेचमन उडने से पहले परफ्शा हो जा"[४६]

मनुष्य की नियति विश्व को फिर से रचन की है, धार क साथ बह चलने की नहीं—

"जीवन का सार कर्म मे है
सजन का आनन्द ही जीवन का नियम है।
प्रतिकूल परिवेश से समझौता करना
लडाई के मदान मे अपनी ढाल फेंक देने के समान है।
बलवान मनुष्य स्वय विधाता क विरुद्ध सघष करता है
सष्टि की नींव हिला देता है,
और उसके अणु-परमाणुओं को नये साचे मे ढालता है।"[४७]

कवि का नन्दन है—सतत रगो मजग रहो। वह मानवता स असतोष, बल्कि अभ्युदय की माग करता है। निष्क्रियता को वह किसी रूप म क्षमा करन को तैयार नहीं चाहे वह कितने ही लम्बे-चौड़े बहान क्या न बनाए—

"मस्जिद मे ऊँघते हुए धार्मिक से
वह बुतपरस्त अच्छा ह जो मजग होकर
अपनी मूर्ति के आगे सिर झुकाता है।"[४८]

मनुष्य के भातर कोइ बागी कोई विद्रोही है—और वही उसका गौरव है। इक्बाल को यह विचार सह्य नहीं कि मनुष्य का अपन चारो ओर क जगत क आग झुकना चाहिए और बाह्य परिस्थितियों द्वारा की गई व्यवस्था को स्वीकार करना चाहिए।

कब तक चन्द्रमा का प्रकाश उधार लेते रहोगे ?
रात को अपनी ही जल्नी मासा से प्रकाशित करो।"[५]

हमार भीतर जो सचमुच मानवीय है उसकी परिपूर्णता कुछ अद्वितीय उपलब्धि द्वारा ही हो सकता ह, पिट हुए रास्ते पर चलने म नहीं। इक्बाल कहत हैं—"नए क लिए प्रयास करो। यह कुछ गुनाह भी हो तो भी उसमें कुछ-न कुछ अच्छाई तो होगी। [६]

६

फिर भी इक्बाल क लखन मे व्याप्त इस विजय और आत्म आग्रह क स्वर क बावजूद उनक जीवन के दृष्टिकोण मे मूलत कठोर कुछ नहीं है। यदि हम उन्हें स्वच्छ न्दतावाद की भावुकता क अतिरेक को नीत्शे द्वारा ठीक करत हुए पाते हैं तो स्वय नीत्शे क सकल्पवादी अतिरेक को सूफी माग[११]

द्वारा रम करत हुए भी पात हैं। इस भाँति नक्ति की पूर्ति प्रम द्वारा होती है सकल्प की अभिव्यक्ति सुदर व चिंतन द्वारा सयमित होती है, और तवना का अहकार रहस्यवादी अतद ष्टि की सौम्य विनता द्वारा नियमित होता है।

हम गतिशील विश्वदृष्टि म आ म के गौरव पर बल म जीवन का प्रतिक्रियावादी रुझान म इकबाल और टगार व बीच समानता दख चुके हैं। पर एक विशेष मामले म इकबाल और विवकानन्द के बीच समानता भी उतनी ही अपूर्व है। विवेकान द का भी शक्ति और बल का स देशदाता माना जाता है। इकबाल की भाँति ही विवकानन्द का भी आधुनिक विज्ञान और तकनावाद की दृष्टि से धम की फिर स व्याख्या करन म बहुत दिलचस्पी थी। और दोनों म ही हम विज्ञान के फल नवित का धार्मिक अत प्रज्ञा के एक स्वच्छदृष्टि के साथ मिलान की उत्कट इच्छा व्यक्त हैं।

इकबाल के दशन के इस पक्ष का उल्लेख करते हुए एक आलोचक का कहना है— जीवन व मार्गदशक के रूप में बुद्धि (अक्ल) को अस्वीकार करव और प्रम का स्वीकार करक इकबाल अपने आपको रहस्यवादी माग (तरीका) के सच्च अनुयायी सिद्ध करत हैं।'[६२] यह कहना सवथा ठीक नहीं है कि इकबाल बुद्धि को 'अस्वीकार' करत हैं। उनम तकनावादी तत्त्व बहुत प्रबल है जो उ ह जीवन और उसकी समस्याओं व सम्ब ध म सूफी दृष्टि कोण को अस्वीकार क ने को प्रेरित करता है।[६३] फिर भी उनकी काव्या मक प्रवृत्ति बार बार उन्ह तकमूलक बुद्धि व क्षत्र के पर ल जाती है। एसे क्षणा म व दृढतापूवक यह मानन जान पडत हैं कि सत्य का भावना द्वारा बोध होता है उस बुद्धि द्वारा नहीं जाना जाता। एक प्रसिद्ध शेर म व कहत हैं कि "इच्छा को जीवित रखो। इच्छा के बिना शरीर एक मजार है।[६४] यहाँ इच्छा, अफलातून के 'इरोस' की भाँति ताना के आवश्यक सपूरक क रूप म ही प्रस्तुत है। हम ऐसी पक्तियाँ भी मिलती हैं जिनम प्रेम की प्राथमिकता का बड़े स्पष्ट—बहुरयी दृष्टि स स्पष्ट—रूप म घोषित किया गया है। इस भाँति कवि कहता है—

"धम के नियम क सभी रहस्य में सोच चुका हूँ,
उनका सार यह है कि काफिर वह है
जो प्रेम को अस्वीकार करता है।"[६५]

और प्रम की मुक्तिदायी शक्ति म यह आस्था इकबाल का विश्व क प्रति एक सौन्दयपरक दृष्टि की ओर ल जाता है। व यह कहन म नहीं

समीक्षा बाद म राधाकृष्णन की पुस्तक द हाट आफ हिदुस्तान म प्रकाशित हुई।

११ मौलाना आजाद का विशेष योग था इस्लामी चिन्तन के इतिहास के आधार पर व्यक्ति और समाज दोनो की स्वाधीनता की धारणा का विवचन।

१२ इस्लामी चिन्तन के समकालीन प्रतिनिधियो म सबस प्रमुख हैं जाकिर हुसैन, के० जी० सैयदैन, हुमायुन कबिर और आबिद हुसैन।

१३ अहमदिया मिरजा गुलाम अहमद (१८३९ १९०८) क अनुयायी थ।

१४ वहाबी आन्दोलन ने व्यवहार मे साम्प्रदायिक रूप लिया था यद्यपि विचारधारा की दृष्टि स उसमे बहुत से प्रगतिशील तत्व थे।

१५ तुलनीय, गालिब का प्रसिद्ध शेर—

हम मुवहिद हैं, हमारा केश है तक ए रसूम।
मिल्लतें जब मिट गइ, अज्जा ए ईमा हो गइ॥

१६ इस विषय मे गजाली और इब्न अल अरबी दो सवथा भिन्न दृष्टिकोणा का प्रतिनिधित्व करते हैं यद्यपि दोनो ने ही सूफी चिन्तन पर गहरा प्रभाव डाला। गजाली दिय के साथ सयोग की स्थिति मे मानव व्यक्तित्व को बनाए रखने के विचार को स्वीकार नहीं करते थ। इब्न अल अरबी आत्मत्व को बनाए रखने पर आग्रह करत हैं यद्यपि उनकी तत्त्वमीमामा बहु ईश्वरवादी है।

१७ ग़ालिब की भाँति इकबाल ने भी अपनी प्रारम्भिक जटिल शैली को छोडकर सरल और सहज शली अपनाई थी। अवश्य ही यह उनके विचारा की बढ़ती हुई स्पष्टता और ऋजुता का परिणाम था।

१८ इकबाल और मकटगट के बीच पत्र-व्यवहार हुआ था और इन पत्रा म बहुत से दिलचस्प दार्शनिक प्रश्न उठाये गए थे। मैकटगट ने इकबाल को उनके परवर्ती लेखन की अपेक्षा पूववर्ती लेखन मे अधिक रहस्यवादी माना है।

१९ इकबाल और जेम्सवाड के विचारा म समानता के लिए तुलनीय, एम० एम० शरीफ इकबाल्स कन्सप्शन आफ गाड।

२० एक सुदर कविता म इकबाल ने गटे क प्रति श्रद्धाजली अर्पित की है।

२१ किन्तु यह कहा गया है कि आत्मा के विचार के सामाजिक और

सन्दर्भ

१ सत्रहवीं शताब्दी में लिखते हुए दारा शुकोह ने भारतीय संस्कृति में हिन्दू और इस्लामी तत्त्वों के संगम को 'दो महासागरों का मिलन' कहा है (मजमूआ ए बहरन)।

२ तुलनीय सच्चिदानन्द सिन्हा—'इकबाल में सब-कुछ विदेश का है, घर का कुछ नहीं। हो सकता है यह लाभदायक हो, पर अपनी जन्मभूमि की सभ्यता, संस्कृति और मानववाद के विषय में उनके ज्ञान और मूल्यांकन का क्या हो? क्या उन्होंने बुखारा, काबुल और तब्रेज के साथ-साथ इन्हें भी समझने का प्रयास किया?' (इकबाल—द पोएट एण्ड हिज मैसेज)।

३ विश्व भारती क्वार्टरली में प्रकाशित जुलाई १९२३।

४ तुलनीय, जमालुद्दीन अफगानी की पुस्तक रेफ्यूटेशन आफ मैटीरियलिज्म, जिसमें सर सैयद अहमद का बेरहमी से मजाक उड़ाया गया था।

५ धर्म की तर्कसंगत व्याख्या के प्रयासों के कारण सर सैयद और उनके अनुयायियों को नेचरी अर्थात प्रकृतिवादी कहा जाता था।

६ उस युग के एक और तर्कनावादी लेखक थे मुस्तफा सामी, एन एपालोजी फार द न्यू लाइट के लेखक।

७ खुदा बख्श ने लिखा था—मेरी कामना है कि मुस्लिम जनता एक उच्चतर भव्यतर भारतीय एकता में विलीन हो जाए जो प्रबल रूप में सबकी और शानदार ढंग से सम्पूर्ण है। (एसेज इण्डियन एण्ड इस्लामिक पृ० २४)।

८ अमीर अली की पुस्तक द स्पिरिट आफ इस्लाम ने मध्यपूर्व के मुसलमानों को बहुत प्रभावित किया था।

९ दयानन्द ने इस विचार को अर्थहीन बताया था कि कुरान में हमारी सब बुराइयों का इलाज मौजूद है। इस कथन के कारण बहुत से कट्टरपंथी उनसे नाराज हो गए थे।

१० इस पुस्तक की राधाकृष्णन ने विस्तार से समालोचना की थी। यह

झिझकते कि चरम विश्लेषण में कला दर्शन से उच्चतर है। सत्ता तक कवि की पहुँच तत्वमीमांसक से कहीं अधिक प्रत्यक्ष और घनिष्ठ है—

दार्शनिक अविस्सेना लैला के ऊँट के परों से उड़ी हुई धूल में खो जाता है,
पर कवि रूमी का हाथ सीधा उसकी पालकी के परदे पर पहुँचता है।"[१६]

प्रना डालो।'

६० इस धारा म लिखी हुई कुछ पक्तियो मे इकबाल वाल्ट ह्विटमैन के बहुत समीप आ जाते हैं।

६१ इसके अतिरिक्त स्वय नी ने मे [रागावाद के चहरे के पीछे एक प्रकार की कोमलता है जो सतही परिचय म प्राय दिखाई नही पडती। नीत्शे पर एक छोटी नज्म म इकबाल कहते हैं—"उनका दिल यकीन करने वाला है यद्यपि उनका दिमाग इन्कार करता है।"

६२ फजलुरहमान इकबाल एण्ड मिस्टिसिज्म (इकबाल रेज ए थिकर परिसवाद स)।

६३ बहुत से स्थानो पर इकबाल सूफी मत की विशेषकर उसके नैतिक निहित निष्कर्षों की बडी तीव्र आलोचना करते हैं। उनके विचार म ये निष्कर्ष निष्क्रियता और जडता की ओर ले जाते हैं।

६४ इसरारे खुदी से।

६५ जबूरे आजम स।

६६ बू अली अ दर गुबार नाका गुम
दस्त रूमी परदा ए मेहमिल गिरफ्त।'

समीक्षा बाद म राधाकृष्णन की पुस्तक द हाट आफ हिदुस्तान म प्रकाशित हुई।

११ मौलाना आजाद का विशेष योग था इस्लामी चितन के इतिहास के आधार पर व्यक्ति और समाज दोनो की स्वाधीनता की धारणा का विवचन।

१२ इस्लामी चितन के समकालीन प्रतिनिधियो म सबसे प्रमुख हैं जाकिर हुसैन, के० जी० सयदैन, हुमायुन कबिर और आबिद हुसैन।

१३ अहमदिया मिरजा गुलाम अहमद (१८३६ १६०८) के अनुयायी थे।

१४ वहाबी आदोलन ने व्यवहार मे साम्प्रदायिक रूप लिया था यद्यपि विचारधारा की दष्टि स उसम बहुत से प्रगतिशील तत्त्व थे।

१५ तुलनीय गालिब का प्रसिद्ध शेर—

हम मुवहिद हैं, हमारा केश है तक ए रसूम।
मिल्लतें जब मिट गइ, अज्जा ए ईमा हो गइ॥

१६ इस विषय म गजाली और इब्न अल अरबी दो सवथा भिन दष्टिकोणो का प्रतिनिधित्व करते हैं यद्यपि दोनो ने ही सूफी चितन पर गहरा प्रभाव डाला। गजाली दिव्य के साथ सयोग की स्थिति मे मानव व्यक्तित्व को बनाए रखने के विचार को स्वीकार नही करते थ। इब्न अल अरबी आत्मत्व को बनाए रखने पर आग्रह करत हैं, यद्यपि उनकी तत्त्वमीमासा वहु ईश्वरवादी है।

१७ गालिब की भाँति इकबाल ने भी अपनी प्रारम्भिक जटिल शली को छोडकर सरल और सहज शली अपनाई थी। अवश्य ही यह उनके विचारो की बढती हुइ स्पष्टता और ऋजुता का परिणाम था।

१८ इकबाल और मक्टगट के बीच पत्र-व्यवहार हुआ था और इन पत्रो म बहुत से दिलचस्प दाशनिक प्रश्न उठाये गए थे। मक्टेगट ने इकबाल को उनके परवर्ती लेखन की अपेक्षा पूववर्ती लेखन म अधिक रहस्यवादी माना है।

१६ इकबाल और जेम्सवाड के विचारो मे समानता के लिए तुलनीय, एम० एम० शरीफ इकबाल्स कन्सप्शन आफ गाड।

२० एक सुदर कविता म इकबाल ने गेटे के प्रति श्रद्धाजली अर्पित की है।

२१ किन्तु यह कहा गया है कि आत्मा व विचार के सामाजिक और

सास्कृतिक निहितार्थों को प्रतिपादित करने में इकबाल रूमी से आगे गए हैं।

२२ किन्तु इकबाल बुद्धिवाद विरोध के रास्ते पर बगसाँ के साथ बहुत दूर तक नहीं जाते।

२३ इकबाल लवक्स ऑन मेटाफिजिक्स, पृ० १८७।

२४ गिब माडर्न ट्रेंड्स इन इस्लाम, पृ० ८१।

२५ तुलनीय, टैगोर—'धर्मशास्त्र भी कभी आविष्कार ही था।"

२६ सच्चिदानन्द सिन्हा द्वारा इकबाल द पोइट एण्ड हिज मसेज म उद्धृत।

२७ तुलनीय विवेकानन्द— 'वेदान्त विश्वविजय करेगा।'

२८ गिब कहते हैं—"मैंने इसके कोई चिह्न नहीं देखे कि इकबाल के विचारों का भारत के बाहर कहीं कोई प्रभाव पड़ा।' (माडर्न ट्रेंड्स इन इस्लाम, पृ० ६०)।

२९ उनकी हिमालय के ऊपर नज्म को उसके शिल्प और सौन्दर्य की दृष्टि से सबसे निर्दोष कविताओं में गिना जाता है।

३० खुदी के विषय में इकबाल के कुछ कथनों से उपनिषदों म आत्मा के गौरव गान का स्मरण होता है।

३१ इकबाल के दर्शन म ईश्वर की धारणा का विकास एम० एम० शरीफ द्वारा इकबाल एज ए थिंकर नामक ग्रन्थ (लाहौर, १९४४) में अपने लेख म भली भाँति दिखाया गया है।

३२ इकबाल ए रिव्यू ऑफ मैकटेगर्ट स फिलासफी, ईस्ट पत्रिका म प्रकाशित।

३३ 'पकरे हस्ती ज असरे खुदी अस्त
　　हर चाह मे बिनी ज इसरारे खुदी अस्त।'

३४ इकबाल रिकन्स्ट्रक्शन आफ फिलासफी इन इस्लाम, पृ ७८।

३५ वही, पृ० ६२।

३६ तुलनीय प्राचीन भारतीय चिन्तन म जीवनमुक्ति' की अवधारणा।

३७ इब्न-अल अरबी फना की तत्वमीमासीय और रहस्यवादी व्याख्या म अन्तर करते हैं। तुलनीय रोम लैंडो द फिलासफी आफ इब्न-अल-अरबी।

३८ इकबाल रिकन्स्ट्रक्शन आफ फिलासफी इन इस्लाम, पृ० ११८।

३९ देखिए इस पुस्तक का पाँचवाँ अध्याय, खण्ड ६।

४० इकबाल लक्चस आन मेटाफिजिक्स, पृ० ८०।

४१ तुलनीय, टैगोर—"मेरे ही जगत् म तुम्हारे सर्वोच्च अधिकार
र होंगे।"

४२ 'खुदी क्या है ? राज़े दारूने हयात,
खुदी क्या है ? बेदारिए कायनात।"

४३ जबूरे आजम से।

४४ "फितरत अगुफ्त कि अज़ खाक-जहाँ-ए मजबूर
खुद गर खुद शिकने खुद निगरे पैदा अस्त।"

४५ "सरोद ओ शेर ओ सियासत किताब ओ दीन ओ हुनर
अगर खुदी की हिफाज़त करें तो आइन-ए-हयात
न कर सकें तो सरापा फसून-ओ-अफसाना।
(ज़र्बे कलीम से)।

४६ "या तो खुद अशकार हो या मुझे अशकार कर।"

४७ पयामे मशरिक से।

४८ "खुशतर ज हज़ार परसाई
गमे बतारीक अशनाई।"

४९ "अगर कजरो हैं अंजुम आसमाँ तेरा है या मेरा ?
मुझे फिक्रे जहाँ क्या हो ? जहाँ तरा है या मेरा ?

५० 'अपने लिए लामकाँ, मेरे लिए चार सू।"

५१ "हूर ओ फरिश्ता हैं असीर मेरे तखय्युलात म।

५२ बांगेदरा से।

५३ इकबाल का कहना है कि यदि बाध्यता 'भाग्य की बजाय काल
द्वारा आय तो निधारण कम क्षोभकारक हो जाता है।

५४ एम० रज़ीउद्दीन सिद्दीकी इक्बाल्स क सप्शन ऑफ टाइम एण्ड
स्पेस।

५५ अबू अली इब्न मस्कावाइ, चिकित्सक, दार्शनिक और इतिहास
कार, ऐसे युग म हुए थे जो इस्लामी चिंतन के विकास के लिए निर्णायक था।
अल फराबी का प्रभाव उनार पर था, और इब्न सीना अभी तक नौजवान ही
था। मस्कावाइ ने दार्शनिक परम्परा का जीवित रखा।

५६ 'तू ए मर्ग-चमन उड़ने से पहले परफिशा हो जा।

५७ इसरारे खुदी स (पंक्तियाँ १०१८ से १०३१ तक)।

५८ जावेदनामा म।

५९ उसी नज़्म म व कहते हैं—'तुम्हें शबनम मिले तो उसे समुन्दर

बना डालो।"

६० इस धारा मे लिखी हुई कुछ कविता मे इकबाल वाल्ट ह्विटमैन के बहुत समीप आ जाते है।

६१ इसके अतिरिक्त "बय नी दी में निराशावाद के चेहरे के पीछे एक प्रकार की कोमलता है जो सतही परिचय म प्राय दिखाई नही पडती। नीत्शे पर एक छोटी नज्म म इकबाल कहते हैं—"उनका दिल यकीन करने वाला है यद्यपि उनका दिमाग इन्कार करता है।'

६२ फजलुरहमान इकबाल एण्ड मिस्टिसिज्म (इकबाल रेज ए थिंकर पत्रिकावाद स)।

६३ बहुत से स्थलो पर इकबाल सूफी मत की विशेषकर उसके नतिक निहित निष्कर्षों की बडी तीव्र आलोचना करत हैं। उनक विचार म य निष्कय निष्क्रियता और जडता की ओर ले जाते हैं।

६४ इसरारे खुदी स।

६५ जबूरे आजम म।

६६ बू अली अ दर गुबारे नाका गुम
दस्ते रूमी परदा ए महमिल गिरफ्त।

४१ तुलनीय, टैगोर— 'मेरे ही जगत् में तुम्हारे सर्वोच्च अधिकार पूरे होंगे।"

४२ 'खुदी क्या है ? राज़े दरूने हयात
खुदी क्या है ? बेदारिए कायनात।'

४३ ज़ुबूरे अजम से।

४४ "फ़ितरत मगुफ्त कि अज़ खाके-जहाँ-ए मजबूर
खुद गरे खुद शिकने खुद निगरे पैदा कर्द।'

४५ 'सरोद ओ शेर ओ सियासत किताब ओ दीन ओ हुनर
अगर खुदी की हिफ़ाजत करें तो आइन-ए-हयात
न कर सकें तो सरापा फसून-ओ-अफ़साना।
(ज़र्बे कलीम से)।

४६ 'या तो खुद आकार हो, या मुझे आकार कर।"

४७ पयामे मशरिक से।

४८ 'खुशतर ज़ हज़ार पारसाई
गामे ब-निगारीए अशनाई।'

४९ "अगर कजरौ हैं अंजुम आसमाँ तेरा है या मेरा ?
मुझे फ़िक्रे जहाँ क्यों हो ? जहाँ तेरा है या मेरा ?

५० "अपने लिए लामकाँ मेरे लिए चार सू।'

५१ 'हूर ओ फ़रिश्ता हैं असीर मेरे तखय्युलात में।

५२ बाँगेदरा से।

५३ इक़बाल का कहना है कि यदि बाध्यता 'भाग्य' की बजाय काल द्वारा आये तो निर्धारण कम क्षोभकारक हो जाता है।

५४ एम० रज़ीउद्दीन सिद्दीक़ी इक़बाल्स कन्सेप्शन ऑफ टाइम एण्ड स्पेस।

५५ अबू अली इब्न मस्कावाइ चिकित्सक, दार्शनिक और इतिहासकार, एक युग में हुए थे जो इस्लामी चिंतन के विकास के लिए निर्णायक था। अल फ़राबी का प्रभाव उतार पर था, और इब्न सीना अभी तक नौजवान ही था। मस्कावाइ ने दार्शनिक परम्परा को जीवित रखा।

५६ 'तू ए मुर्गे-चमन उड़ने से पहले परफ़िशाँ हो जा।

५७ इसरारे खुदी से (पंक्तियाँ १०१८ से १०२१ तक)।

५८ जावेदनामा से।

५९ उसी नज़्म में वे कहते हैं— तुम्हें शबनम मिले तो उसे समुन्दर